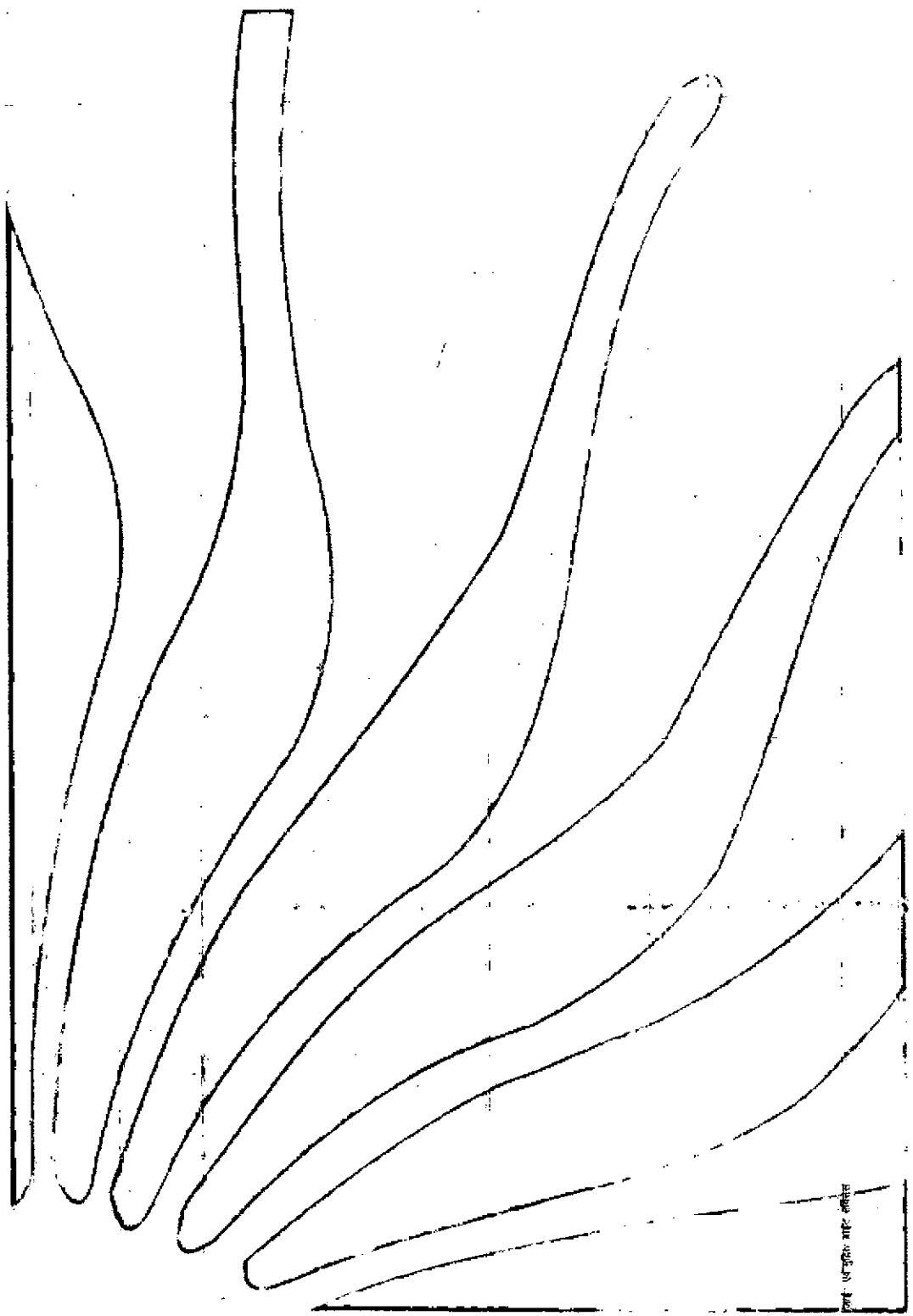

भारतीय संस्कृति में मानव अधिकार की अवधारणाएं

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

भारतीय संस्कृति में मानव अधिकार की अवधारणाएँ

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
फरीदकोट हाऊस, कोपरनिकस मार्ग,
नई दिल्ली – 110001

प्रकाशक : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
फरीदकोट हाउस,
कोपरनिकस मार्ग,
नई दिल्ली – 110001,
भारत

© 2006 राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत

प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

BHARTIYA SANSKRITI MEIN MANAVA ADHIKAR KI AWADHARNAEIN
(Articles presented in the
Seminar organised
by NHRC on 2-3 March, 2006)
National Human Rights Commission
Faridkot House, Copernicus Marg,
New Delhi - 110001

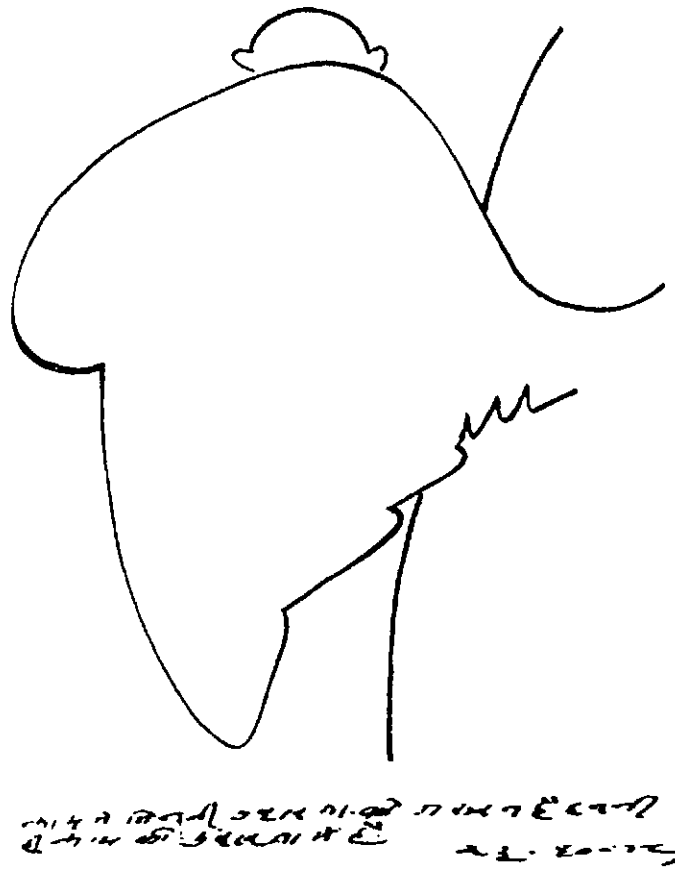

न्याय में जितनी उदारता की जरूरत है, इतनी ही न्याय की उदारता में है।

—महात्मा गाँधी
23-10-1945

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

कार्यकारी अध्यक्ष

न्यायमूर्ति डॉ0 शिवराज वी. पाटील

सदस्य

न्यायमूर्ति वाई0 भास्कर राव

श्री आर. एस. काल्हा

श्री पी. सी. शर्मा

महासचिव
श्री रवि कमल भार्गव

महानिदेशक
श्री दामोदर षडंगी

रजिस्ट्रार
श्री अजीत भरिहोक

संयुक्त सचिव
श्रीमती अरुणा शर्मा

मुख्य समन्वयक (प्रशिक्षण)
श्री माइकल वी. सिरोमनी

सहयोग : श्री मदन पाल राघव
श्री राजेश कुमार कालड़ा
श्रीमती अंजलि सकलानी

कम्प्यूटरीकरण : श्रीमती सीमा शर्मा
श्रीमती सुमन माला सैनी

अनुक्रम

पृष्ठ

- दो शब्द : न्यायमूर्ति डॉ0 ए. एस. आनंद i
- प्रयोजन : न्यायमूर्ति डॉ0 शिवराज वी. पाटील ii
- आमुख : पी. सी. शर्मा iii
- प्रास्ताविक : अरुणा शर्मा iv
- संपादकीय : सरोज कुमार शुक्ल v

लेख

1. मानव अधिकार की भारतीय संकल्पना : परिधि और प्रयोजन — प्रो0 गिरीश्वर मिश्र — 3–10
2. जैन धर्म में मानव अधिकार संरक्षण के सूत्र — प्रो0 प्रेम सुमन जैन — 13–24
3. सार्वभौमिक भ्रातृत्व एवं मानव अधिकार की अवधारणा – भारतीय दृष्टि — मदन गुप्त — 25–31
4. भारतीय संस्कृति में मानवाधिकार : एक विहंगम दृष्टि — सत्य नारायण साबत — 35–41
5. अशोक के धर्मलेखों में अभिव्यंजित बौद्ध धर्म में मानवाधिकार की अवधारणा — डॉ0 बुद्धरशिम मणि — 42–46
6. ईसाई धर्म में मानव अधिकार की अवधारणा — डॉ0 एम. डी. थॉमस — 47–54
7. सिक्ख धर्म और मानव अधिकार — प्रो0 ए. एस. नारंग — 55–67

8.	मानवाधिकार और कौटिल्य का 'अर्थशस्त्र' : एंकल्पनामूलक निर्वचन	डॉ0 नरेंद्र व्यास	68–74
9.	लोक और शास्त्र में मानवाधिकार	डॉ0 वागीश शुक्ल	75–81
10.	लिंग न्याय और मानवाधिकार	अनिल दत्त मिश्रा, शगुन अग्रवाल	82–90
11.	भारतीय संदर्भ में मानवाधिकारों के सिद्धांत पर पुनर्विचार	डॉ0 महेन्द्र पाल सिंह	93–99
12.	मानय अधिकारों के प्रति शैक्षिक दायित्व एवं स्कूली शिक्षा की अपेक्षाएं एवं चुनौतियाँ	श्रीमती लक्ष्मी सिंह	103–109
13.	आधुनिक भारतीय शिक्षा में निहित मनुष्य की अवधारणा का आशय	दिनेश कुमार शर्मा	110–114
14.	शिक्षा का अधिकार : दशा एवं दिशा	स्वरूपमा चतुर्वेदी	115–126
15.	प्रतिवेदन	राकेश रेणु	127–133

दो शब्द

मानव अधिकार का विषय–क्षेत्र व कार्य–क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है। इसका सरोकार सम्पूर्ण मानव जाति, विशेषकर समाज के कमजोर, दलित, पीड़ित, शोषित, उपेक्षित, विकलांग आदि वर्गों से है। इस महत्वपूर्ण विषय पर हिंदी में संगोष्ठी का आयोजन और उसमें प्रस्तुत आलेखों का प्रकाशन हमारे लिए गर्व और विशेष प्रसन्नता की बात है। मानव अधिकार चूंकि आम आदमी की समस्याओं से जुड़ा हुआ मुद्दा है, इसलिए यह बहुत जरूरी है आम आदमी की भाषा में चर्चा हो। यह वास्तविकता है कि हिंदी भाषा को माध्यम बनाकर ही हम देश के एक बहुत बड़े जन समुदाय को मानवाधिकार आंदोलन से जोड़ सकते हं। मेरा विश्वास है कि जनसुलभ भाषा के द्वारा हमारी कोशिश अधिक कारगर हो सकेगी।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय भी समाज से जुड़ा हुआ है और मैं समझता हूँ, यह समय की जरूरत के अनुरूप है। यह भ्रम हमेशा से रहा है कि मानव अधिकार की बात यूरोपीय देशों की देन है और इस मामले में पहले से हमारी अपनी कोई सोच ही नहीं थी। ऐसे में यह बताया जाना निहायत जरूरी है कि मानव अधिकार की जड़ें किस तरह हमारी भारतीय संस्कृति में हमेशा से रही हैं। हमारे यहां राम राज्य या आदर्श राज्य की परिकल्पना की गई है जिसे पश्चिमी देश 'यूटोपिया' (UTOPIA) कह सकते हैं। इस आदर्श राज्य के विवेचन में अधिकार, कर्तव्य, विकास और कल्याण की भावनाओं को पर्याप्त महत्व दिया गया है। मनुष्य की गरिमा कैसे सुरक्षित रखी जाय यह प्रश्न धर्मशास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों और महाकाव्यों में बार–बार उठाया गया है और उसका समाधान भी दिया गया है। धर्म, कर्तव्य, पुरुषार्थ को लेकर व्यापक चर्चाएं होती रही हैं। और मानव व्यवहार के मानदंड स्थापित किए गए हैं। यह चर्चा हर धर्म और परम्परा में पायी जाती है। तात्पर्य यह है कि भारतवासियों के लिए मानव अधिकार कोई नयी संकल्पना नहीं है, लेकिन आज इसके जिस रूप पर बल दिया जा रहा है उसका कलेवर और उसका संदर्भ जरूर नया है। आज के समाज की संरचना, स्वरूप, परिस्थितियाँ व आवश्यकताएँ काफी भिन्न हैं और इसी भिन्नता के कारण यह भ्रम पैदा होता है कि भारतीय विचारधारा अप्रासंगिक और अनुपयोगी है। इस संगोष्ठी की चर्चाओं से यह स्पष्ट हुआ है कि ऐसी बात नहीं है और भारतीय परंपरा की धरोहर में ऐसा बहुत कुछ है जिससे हम आज भी सीख सकते हैं।

पुस्तक में संग्रहित आलेखों में भारत की संस्कृति तथा विविध मतों और मजहबों में मानवाधिकर विषयक सोच पर विस्तार से चर्चा की गई है। इनमें मानव अधिकार शिक्षा की जरूरत, महत्व और रूपरेखा पर भी विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से विचार व्यक्त किया है। हमें इनसे अनेक उपयोगी सुझाव मिले हैं। इस तरह की चर्चा–परिचर्चा निस्संदेह हमारे लिए लाभप्रद है।

इस अवसर पर मैं यह जरूर उल्लेख करना चाहता हूँ कि भारतवर्ष में मानवाधिकार हनन की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, महिलाओं और बच्चों को तरह–तरह के अत्याचार, शोषण और उत्पीड़न का सामना करना पड़ रहा है। इसके अलावा आतंकवाद भी एक प्रमुख समस्या के रूप में उभर रहा है। गरीबी के कारण आम जनता का एक बड़ा हिस्सा आज भी मूलभूत सुविधाओं से वंचित है। ऐसी स्थिति में यह जरूरी है कि मानव अधिकारों के विभिन्न पहलुओं के बारे में आगे भी व्यापक विचार–विमर्श जारी रहे, जिससे लोगों में सजगता और जागरूकता आए। साथ ही कानून का पालन कराने वाले प्राधिकारियों और नीति–निर्माताओं को भी मानव अधिकार के विभिन्न पक्षों के प्रति संवेदनशील बनाया जाना चाहिए। गणतंत्र में सबको समान अवसर मिले और साझेदारी के साथ लोग आगे बढ़ सकें–यह विशेष रूप से आवश्यक है। इसके लिए मानव अधिकारों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। मानव अधिकार के बारे में शिक्षा को लेकर सामान्य शिक्षा में अभी तक कोई ठोस कार्यक्रम नहीं बन सका है। हमें यह विचार करना होगा कि स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में छात्रों के लिए किस स्तर पर किस प्रकार का पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जाय? साथ ही मीडिया का उपयोग इस काम में कैसे किया जाय, इस पर भी कार्य योजना बनाना आवश्यक है। मुझे आशा है कि इस संगोष्ठी के सुझाव इस दिशा में लाभदायक होंगे।

राजभाषा हिंदी के माध्यम से विशाल जन समुदाय को आंदोलित किया जा सकता है। ऐसे में वे सभी लेखक बधाई के पात्र हैं जिन्होंने मानव अधिकार विषय पर हिंदी में पुस्तकें लिखी हैं। आयोग की ओर से हिंदी में सर्जनात्मक लेखन की पुरस्कार योजना चलाई जा रही है। इसमें लेखकों की भागीदारी बढ़ रही है। इसके अंतर्गत पुरस्कार पाने वाले लेखकों को मैं विशेषरूप से अपनी शुभकामनाएं देता हूं। इन रचनाओं से मानव अधिकार के आन्दोलन को बल मिलेगा। आयोग की ओर से मानव अधिकार विषय से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों, रिपोर्टों आदि का हिंदी में प्रकाशन भी किया गया है जिनका 2 मार्च 2006 को लोकार्पण किया गया था। मुझे विश्वास है कि आयोग के ऐसे प्रयास आगे भी जारी रहेंगे। हमारा लक्ष्य है कि देश में किसी भी व्यक्ति के मानव अधिकारों पर किसी तरह की आंच न आए। इस लक्ष्य को पाने के लिए आयोग सदैव प्रयास करता रहेगा।

(न्यायमूर्ति डॉ0 ए. एस. आनंद)

प्रयोजन

भारतीय संस्कृति विश्व की सबसे उदारवादी और एक अति प्राचीन संस्कृति है। सम्पूर्ण विश्व में भारतीय संस्कृति अपनी अलग पहचान के लिए विख्यात है। सर्वधर्म समभाव, उदारवादी चिन्तन, विश्व बंधुत्व, धर्म निरपेक्षता इसकी असली पहचान है। हमारी संस्कृति में मानव अधिकारों की अवधारणा का बीज बहुत ही प्राचीन काल से विद्यमान है। हमारी संस्कृति में 'बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय' का शंखनाद गूँजता रहा है। विश्व के सभी धर्मों, मजहबों में प्रेम, करुणा और मैत्री का संदेश सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। संसार का कोई भी धर्म हमें हिंसा नहीं सिखाता और न ही हिंसा का उपदेश देता है।

मनुष्य की चिन्ता करते हुए, व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों स्तरों पर, यह प्रयास किया जाता रहा है कि किस तरह सौहार्द स्थापित हो और विकास का लक्ष्य प्राप्त हो। यह प्रसन्नता की बात है कि राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने विभिन्न मतों और परम्पराओं में मानव अधिकार की अवधारणा पर राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की और उसमें प्रस्तुत आलेखों का यह संग्रह तैयार किया। विभिन्न दृष्टियों के अधिकारी विद्वानों ने अपने लेखों में मानव अधिकार विषयक विचार–विमर्श को आगे बढ़ाया है। इन प्रयासों से यह सिद्ध होता है कि संवाद आज भी संभव है।

वेदों से ही समाज की चिन्ता इस देश के चिन्तन में मिलती है। इस संस्कृति के सभी धर्म ग्रन्थ चाहे वेद हों, पुराण हों, गीता हों, उपनिषद हों, गुरु ग्रन्थ साहब हों, कुरान हों या फिर बाइबिल हों, सब में मानवीय गरिमा को बहाल करने का संदेश मिलता है।

मानव गरिमा की स्थापना का लक्ष्य सभी महापुरुषों के आगे रहा है। यह जरूर है कि उन्होंने अपने कर्म द्वारा उस गरिमा को अर्थ दिया और सच कर दिया। आज की स्थिति कठिन हो गयी है और आचरण के मानक टूट रहे हैं। यदि अच्छे विचार और आदर्श जीवन में रच–बस नहीं जायेंगे तब तक कुछ नहीं होगा। पर जब तक ये बातें हमारी जीवन शैली का अंग नहीं बन जाएंगी तब तक हम अपनी सदियों पुरानी संस्कृति को नई ऊर्जा से परिभाषित नहीं कर पाएंगे।

आस्था, विश्वास और आत्मीयता के विस्तृत फलक पर आधारित मानव अधिकारों की व्यापकता सर्वविदित है। इसे रेखांकित करने की आवश्यकता नहीं है। जहां तक मेरी समझ है किसी भी देश की संस्कृति, उसकी सभ्यता, उसका रहन–सहन एवं उसका पहनावा उस देश की मानवीय गरिमा से सीधा संबंध व संवाद स्थापित करता है।

इस संस्कृति में 'सर्वधर्म समभाव' का अनोखा संगम है। विश्व बन्धुत्व की भावना हमारी संस्कृति की असली पहचान है। भारतीय संस्कृति में मानव अधिकारों की अवधारणा का बीज बहुत प्राचीन काल से विद्यमान है।

आयोग द्वारा आयोजित संगोष्ठी और उसमें प्रस्तुत आलेखों के सुधी लेखकों का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और आशा करता हूँ कि ऐसे प्रयास आगे भी होते रहेंगे और मानव अधिकारों की स्थापना का हमारा व्रत फलीभूत होगा।

(न्यायमूर्ति डॉ0 शिवराज वी. पाटील)
कार्यकारी अध्यक्ष

आमुख

मानव अधिकार का विचार–दर्शन सार्वभौमिक है और मानव–मात्र अर्थात् हर किसी से जुड़ा है। इसके केंद्र में मानव का अस्तित्व और उसकी अन्तर्निहित क्षमताओं का समुचित विकास का भाव निहित है। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए देश में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की स्थापना की गई ताकि आज के समकालीन परिप्रेक्ष्य में मानवीय मूल्यों और आदर्शों की प्रभावी ढंग से रक्षा की जा सके।

अपनी स्थापना के बाद से ही आयोग, मानवाधिकार के अभियान को जनांदोलन बनाने के लिए प्रयासरत रहा है। आयोग इसका प्रणेता भी है और सूत्रधार भी। आपने लक्ष्य किया होगा कि आयोग का आदर्श वाक्य है – **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** अर्थात् सभी सुखी हों। आयोग का अभीष्ट लक्ष्य इसी उक्ति को वास्तविकता में चरितार्थ करना है। आयोग का उद्देश्य जहाँ एक ओर देश के शोषित–पीड़ित बहुसंख्यक वर्ग को उसके मानवाधिकारों से परिचित कराना है, वहीं दूसरी ओर शासन–प्रशासन से जुड़े लोगों और नीति–निर्माताओं को इस मानव केन्द्रित दृष्टि के प्रति संवेदनशील भी बनाना है। इसके लिए अपने कार्यक्रमों और संगोष्ठियों को हिंदी में आयोजित करना एक बड़ा कदम है। यह पहल अपने–आप में महत्वपूर्ण है और एक नये युग का आरंभ है।

जब हम मानव अधिकारों की चर्चा करते हैं तो राष्ट्रपिता **महात्मा गांधी** का नाम सहज ही ध्यान में आता है। गांधीजी देश को केवल अंग्रेजों की गुलामी से ही नहीं बल्कि सदियों से चले आ रहे सामाजिक अन्याय, शोषण और उत्पीड़न से भी मुक्ति दिलाना चाहते थे । उनका प्रमुख उद्देश्य एक ऐसे समतामूलक समाज को बनाना था जिसमें जाति, पंथ, क्षेत्र आदि के आधार पर किसी तरह का भेदभाव न हो। कोई व्यक्ति भूखा न रहे तथा सबकी बुनियादी जरूरतों की पूर्ति हो सके। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने जीवनभर कोशिश की। अस्पृश्यता यानी छुआछूत को उन्होंने सामाजिक अपराध और अभिशाप माना। उन्होंने राजनैतिक और सामाजिक आंदोलनों के लिए 'सत्य' और 'अहिंसा' नामक अमोघ अस्त्रों का प्रयोग किया। गांधी जी ने इन सबको अपने जीवन में यथार्थ में उतार कर दिखाया। गांधी जी की लड़ाई मानव अधिकारों की ही लड़ाई थी और इसकी शक्ति उनको अपनी भारतीय परम्परा से विरासत में मिली। बाद में मार्टिन लूथर किंग जैसे नेताओं ने इसे पहचाना और भारत से बाहर के विश्व में उपयोग किया।

आमतौर पर मानव अधिकार के विचार और उसकी संकल्पना को पश्चिमी देशों की देन माना जाता है। हम भूल जाते हैं कि भारतीय संस्कृति में मानव अधिकार की अवधारणा बड़ी पुरानी है। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन का अपने में पूर्ण विकसित रूप है। विचार और कर्म के क्षेत्र में जो राष्ट्र का सर्जन है, वही उसकी संस्कृति होती है। भारतीय संस्कृति गंगा की पवित्र धारा के समान है, जो वैदिक काल से सतत प्रवाहित है। यह रामायण एवं महाभारत काल में समृद्ध हुई है तथा बौद्ध, जैन, वैष्णव एवं वेदांत आदि मतों और गुरुओं, और सूफियों की वाणी से व्याख्यायित होती आई है।

भारतीय संस्कृति वेद पर आधारित है, जिसका अर्थ है 'ज्ञान'। यह ज्ञान तर्कसंगत है। इसमें श्रम के महत्व को स्वीकार किया गया है और कर्म के महत्व पर जोर दिया गया है। वेदों में राजा और प्रजा के अधिकार और कर्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ये अधिकार और कर्तव्य लोक–कल्याण, परोपकार, संयम से संबंधित बताए गए हैं। इनमें सबकी सुरक्षा के लिए आवश्यक उपायों पर भी बल दिया गया है। ऋग्वेद में विशेष रूप से कहा गया है कि सब मिलकर रहें, परस्पर मिलकर प्रेमालाप करें। सब समान मन होकर ज्ञान प्राप्त करें। किसी प्रकार का भेदभाव न हो। भारतीय संस्कृति में किसी भी काम को छोटा या बड़ा नहीं समझा जाता था और न ही इसमें किसी प्रकार का शोषण था।

मानव मात्र से जुड़े ये कल्याणकारी विचार भारतीय संस्कृति में और दृढ़ हो गए। विचारों की स्वाधीनता के चलते यहां विभिन्न मतों और पंथों की अविरल धारा बहती रही है। इन धाराओं का संगम भी हुआ है और यह हम सबके लिए गर्व का विषय भी है। कुरान शरीफ, बाइबिल, कबीर के बीजक और गुरु ग्रंथ साहिब सभी एक स्वर में प्रेम, करुणा और समानता का बखान करते हैं। इस नाते **भारतीय संस्कृति का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है और वह सही मायने में व्यापक मानव–धर्म का परिचायक** रही है। यह खुशी की बात है कि इस संगोष्ठी में हम वैदिक दर्शन के साथ–साथ अन्य मतों और पंथों में भी मानव अधिकारों की अवधारणा पर विचार करेंगे।

अंत में मैं यह ध्यान दिलाना चाहूँगा कि अच्छे आदर्शों और विचारों के बावजूद मानवाधिकार हनन की घटनाएं हो रही हैं। केवल मौलिक अधिकारों के अंतर्गत राजनैतिक और नागरिक अधिकारों का हनन ही नहीं हो रहा है, बल्कि सामाजिक–आर्थिक दृष्टि से भी स्थिति पूरी तरह संतोषजनक नहीं कही जा सकती। अब भी भूख से होने वाली मौतों की खबरें आती हैं। आम जनता को स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार जैसी बुनियादी सुविधाएं नहीं मिल पाई हैं। भारतीय संस्कृति की वैचारिक पृष्ठभूमि और आज के हालात को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी है कि देश में मानव अधिकारों के बारे में न केवल जागरूकता लाई जाए बल्कि एक विषय के रूप में मानव अधिकार की शिक्षा को भी आगे बढ़ाया जाए। इस दो दिवसीय संगोष्ठी में हम भारतीय संस्कृति में मानव अधिकार की अवधारणा के साथ–साथ मानव अधिकारों की शिक्षा के महत्व पर भी चर्चा करेंगे। यह सर्वविदित है कि शिक्षित हुए बिना हम अधिकार और कर्तव्य के महत्व को समझ नहीं सकते। यद्यपि "अधिकार" शब्द का विभिन्न प्रसंगों में प्रयोग किया जाता है परन्तु "मानव अधिकार" शब्द अनिवार्य रूप से सभी लोगों के अधिकारों का ही द्योतक है। मानव अधिकार विश्वव्यापी अधिकार है जो जाति, धर्म, भाषा, लिंग और सम्प्रदाय के भेदभाव से ऊपर है। मानव अधिकारों के संवर्धन और सम्मान में शिक्षा, उसके विस्तार और उचित ज्ञान की अहम भूमिका होती है। इसलिए मानव अधिकारों की शिक्षा क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक अभिन्न घटक होनी चाहिए। एक समर्थ भारत के लिए यह नितान्त आवश्यक है। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत प्रकाशन से आयोग को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास को बल मिलेगा। मैं इस अवसर पर उन सभी लेखकों को हार्दिक बधाई देता हूँ जिन्होंने इस कार्य में अपना योगदान दिया है।

प्रेम चन्द्र शर्मा

(पी. सी. शर्मा)

प्रास्ताविक

भारतीय सभ्यता और संस्कृति विश्व में न केवल सबसे प्राचीन है, बल्कि इसमें विभिन्न विचार धाराओं, मतों और पंथों का अनोखा मेल भी है। विविधता हमारी संस्कृति की विशेषता है तथा इस विविधता का सार–तत्व प्रेम और करुणा की भावना है। हमारी संस्कृति में मानव मात्र से ही नहीं, बल्कि सभी जीवों से प्रेम करने की बात बार–बार कही गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि सह–अस्तित्व और सहिष्णुता की भावना हमारे यहाँ हमेशा से रही है। हमारे यहाँ पूरे विश्व को ही एक परिवार या कुटुंब माना जाता है। यहाँ **'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्'** का आदर्श हमेशा से रहा है। इसमें यह कामना की गई है कि सभी सुखी हों, सभी निरोगी हों, सबका कल्याण हो, और किसी को भी दुःख न हो। आदर्श समाज की यह परिकल्पना युगों–युगों से हमारी सामाजिक स्मृति में सँजोई रही है। इसमें मनुष्य की श्रेष्ठता और एक–दूसरे के कल्याण की भावना निहित है। मानव अधिकार का भाव सीधे–सीधे अहिंसा से जुड़ा हुआ है। अहिंसा का दूसरा अर्थ त्याग है–इसमें लोक–कल्याण या जन हित की भावना सर्वोपरि है। इस बात पर बल दिया जाता है कि प्राणि मात्र को मन, वचन या कर्म से किसी तरह की चोट न पहुँचे। इस अहिंसा के बिना मानव अधिकार की रक्षा की बात बेमानी होगी। दरअसल, भारतीय संस्कृति का मूल आधार ही सत्य, अहिंसा और त्याग रहा है और इसी मूल मंत्र के सहारे हमारा समाज सदियों से चलता रहा है। भगवान बुद्ध, महावीर से लेकर महात्मा गांधी तक ने एक आदर्श समाज की परिकल्पना सत्य, अहिंसा और त्याग के विचारों को केंद्र में रखकर ही की थी। वेदों और पौराणिक ग्रंथों में सर्वजन हिताय, लोक–कल्याण, परोपकार आदि के लिए अनेक व्यवस्थाएँ की गई हैं।

सच तो यह है कि भारत वर्ष और इसकी संस्कृति एक ऐसा उपवन है, जिसमें भाँति–भाँति के फूल खिले हैं और सभी मिल कर उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। हमारी विविधता और विभिन्नता में अभूतपूर्व सामंजस्य एवं सर्वग्राह्य समानता आसानी से देखी जा सकती है। हमारे लिए गौरव की बात है कि प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक युग की व्यवस्थाओं के साथ–साथ अन्य मतों, पंथों और मजहबों में भी मानव अधिकार की

अवधारणा के बारे में चर्चा की गयी है। भारत की साझी संस्कृति में मानव अधिकार का यह बहुआयामी विवेचन निश्चय ही लाभदायक रहेगा। मैं सभी लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

अरुणा शर्मा

(अरुणा शर्मा)

सम्पादकीय

समकालीन विश्व में किसी राष्ट्र की नैतिक उपस्थिति का एक बुनियादी मानदंड यह है कि मानव अधिकारों के समर्थन व पोषण के प्रति वह कितना प्रतिबद्ध है। भारत में मानव अधिकार आयोग की स्थापना तो हाल की घटना है किंतु सभ्य समाज के रूप में भारत प्राचीन काल से मानव अधिकारों के प्रति जागरूक रहा है और उसके प्रति प्रकट रूप से सकारात्मक सोच रखता रहा है। आयोग अपनी स्थापना के साथ ही अपने इस दायित्व के प्रति भी सजग रहा है कि हमारे अपने देश और विश्व के अन्य देशों के लोग न केवल भारत की मानव अधिकारों के प्रति समकालीन प्रतिबद्धता के बारे में आश्वस्त हों अपितु भारत के ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मानव अधिकार की संकल्पनाओं की उपस्थिति से भी परिचित हों।

कोई भी समाज अपनी चेतना को बिना निरंतर विचार–विमर्श व बहस के जीवन्त नहीं बनाये रख सकता है। आयोग ने इस दिशा में निरंतर ध्यान दिया है कि मानव अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़े और भारत के कोने–कोने में आम आदमी तक इनकी जानकारी पहुंचाई जाए ताकि वह उससे लाभान्वित हो। कहना न होगा मानव जीवन में गरिमा की प्रतिष्ठा स्थापित करना आयोग का प्रधान उद्देश्य है। वह इसके प्रति वचनबद्ध है।

विचार–विनिमय, विमर्श, परामर्श व संवाद ही वह मुख्य माध्यम है जो इस लक्ष्य को समझने और प्राप्त करने में सहायक होता है। अतः आयोग ने शिक्षा एवं बौद्धिक विचार–विमर्श व संवाद के क्षेत्र में निरंतर अपनी मौजूदगी को महत्व दिया है। ऐसे विचार–विमर्श व संवाद को हिंदी के माध्यम से आयोजित करने का अपना स्वतंत्र महत्व है–जिसे रेखांकित करने की आवश्यकता नहीं है।

तथापि यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि आज आम आदमी को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने के लिए, उसी की भाषा में समझाया जाना चाहिए। इस दृष्टि से हिंदी की एक खास भूमिका हो जाती है, क्योंकि देश की अन्य भाषाओं से हिंदी का गहरा सामाजिक और सांस्कृतिक रिश्ता है। उदाहरण के लिए, यदि मलयालम भाषियों को बंगला भाषियों से संपर्क करना हो तो हिंदी ही सेतु या संपर्क

का काम करेगी। आज भी अंग्रेजी का सहारा थोड़े से लोग ही ले सकते हैं। हिंदीभाषी जनसमुदाय संख्या की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

जिस भाषाई परिवेश में मनुष्य पलता बढ़ता है, उसमें मानवाधिकारों की चर्चा करके उसे अधिकतम लाभ पहुंचाया जा सकता है। इसके विपरीत, किसी विदेशी भाषा का प्रयोग करने से यह उसके लिए दुरूह ही नहीं वरन् एक उपदेश जैसी चीज ही बनकर रह जाएगी। ऐसे में वह अपने आप को इससे जोड़ने में असुविधा ही महसूस करेगा। आज इस बात पर पूरी सहमति है कि मनुष्य की सहज, पूर्ण और सशक्त अभिव्यक्ति उसकी अपनी भाषा में ही हो सकती है। अपनी भाषा में हृदय बोलता है। लोक–भाषा का प्रयोग होने से मानवाधिकार की बातें आदमी को जीवन में हस्तक्षेप या आरोपित न लगकर, जीवन का एक अभिन्न हिस्सा लगेंगी।

उक्त पृष्ठभूमि में आयोग ने भारतीय संस्कृति में मानव अधिकारों की अवधारणा और उसकी शिक्षा के महत्व को केन्द्र में रख कर 2 तथा 3 मार्च 2006 को एक संगोष्ठी आयोजित की। इस संगोष्ठी का उद्घाटन हिन्दी के यशस्वी समालोचक डॉ. नामवर सिंह ने किया। इसमें विभिन्न सांस्कृतिक दृष्टिकोणों से मानव अधिकारों के विविध आयामों को समझने का प्रयास किया गया। संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेखों को व्यापक जन समुदाय तक पहुंचाने के लिए उन्हें सम्पादित कर इस पुस्तक में प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है इस प्रकाशन से मानव अधिकारों को सशक्त रूप से स्थापित करने में बल मिलेगा। साथ ही भारतीय समाज की समझ और हमारी अपनी वैचारिक स्पष्टता भी बढ़ेगी। हमें विश्वास है कि इस प्रयास से मानव अधिकारों पर हमारी सोच को बल मिलेगा, वह और पैनी होगी तथा उसकी जड़ें यहाँ की जमीन में और मजबूत होंगी।

इस आयोजन में जिन विद्वानों का सहयोग मिला उनके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ। आयोग के माननीय अध्यक्ष न्यायमूर्ति डॉ. ए. एस. आनंद एवं माननीय सदस्यों का निर्देशन और वरिष्ठ अधिकारियों के मार्गदर्शन के बिना यह कार्य संभव न था अतः मैं उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। साथ ही, मैं भाषा प्रभाग के अपने सभी सहयोगियों को भी हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जिनका मुझे निरंतर सहयोग मिलता रहा।

(सरोज कुमार शुक्ल)

आयोग द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के अवसर पर हिंदी प्रकाशनों का लोकार्पण करते हुए मुख्य अतिथि, प्रो. नामवर सिंह (बांये से दूसरे) तथा आयोग के माननीय सदस्य श्री पी. सी. शर्मा, एवं श्री आर. एस. काल्हा, साथ में (बांये से), श्री सुधीर चौधरी (उपमहानिरीक्षक), श्रीमती अरुणा शर्मा (संयुक्त सचिव) तथा श्री सरोज कुमार शुक्ल (सहायक निदेशक)

लेख

मानव अधिकार की भारतीय संकल्पना : परिधि और प्रयोजन

• गिरीश्वर मिश्र

जीवन का प्रयोजन धर्मानुकूल आचरण है। धर्म वह है जिसमें व्यक्ति का व्यावहारिक अभ्युदय भी हो और आध्यात्मिक उत्थान भी। समृद्धि और कामनाएं रखना मनुष्य जीवन का स्वाभाविक हिस्सा है परन्तु धर्म की परिधि में ही उनका सेवन हितकर होता है। इसी प्रकार व्यक्ति और समाज की इकाइयाँ परस्पर निर्भर हैं। सृष्टि में सब कुछ परस्पर संबंधित और सापेक्ष्य है, व्यक्ति और समाज, भक्त और भगवान, राजा और प्रजा आदि सभी एक दूसरे पर आश्रित एवं संबंधित हैं। समुद्र, वर्षा, कृषि और अन्न आदि भी परस्पर जुड़े हैं। इनमें से कोई भी अकेला स्वयं में अपर्याप्त है, असमर्थ है। मनुष्य अपनी बौद्धिक क्षमता के कारण यह संबंध अच्छी तरह देख सकता है और उसकी मनुष्यता इसी को पहचानने में है अन्यथा उसमें और पशु में कोई भेद नहीं रह जाएगा।

मानव अधिकारों को स्वतंत्र और प्रजातांत्रिक देशों में आज जिस रूप में स्थापित किया जा रहा है वह सभ्य समाज में एक नैतिक गारंटी और मानक के रूप में एक अनिवार्य आवश्यकता महसूस किये जाने का परिणाम है। एक ऐसा जीवन जो न्यूनतम मानवीय गरिमा के अनुरूप हो, उसे किस तरह मनुष्य मात्र के लिए सुरक्षित और सुनिश्चित किया जाए यह आज मानवता के सामने उपस्थित एक बड़ी चुनौती है। पिछले पांच छह दशकों में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कई प्रयास हुए हैं जिनमें अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की 1919 में स्थापना, संयुक्त राष्ट्र की 1948 की उद्घोषणा, यूरोपीय कन्वेंशन–1954 तथा नागरिक–आर्थिक अधिकारों को ले कर 1966 का अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। विचार करने पर हम पाते हैं कि इन सबके पीछे मनुष्य मात्र के लिए स्वीकृत आधारभूत नैतिक मानकों की स्वीकृति की भावना ही काम कर रही थी। यह संतोष की बात है कि जीवन, स्वतंत्रता, राजनैतिक भागीदारी, सांस्कृतिक–आर्थिक उपलब्धि आदि के सरोकारों को ले कर विगत वर्षों में एक अन्तरराष्ट्रीय समझदारी बनी है और भारत भी उसका एक प्रमुख साझेदार बना है। यदि इनमें परिगणित अधिकारों पर ध्यान दें तो पता चलता है कि ये सभी मूलतः नैतिक धरातल पर टिके हैं। साथ ही इनमें कुछ दावे वाले अधिकार हैं और कुछ स्वतंत्रता वाले

• प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अधिकार हैं। इनके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूप हैं। पर सबका एकमात्र उद्देश्य यही है कि केवल मनुष्य होने के कारण व्यक्ति को बहुत सारे अधिकार मिल जाते हैं जिनसे वह सशक्त हो जाता है और उसकी तमाम आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं। वह एक गरिमायुक्त जीवन जीने की दिशा में तत्पर हो सकता है।

यहाँ पर यह गौरतलब है कि 'मानव अधिकार' होने के कारण ये अधिकार सभी मनुष्यों के पास समान मात्रा में उपलब्ध हैं। तथापि, इन अधिकारों का वास्तविक अर्थों में होना या उपलब्ध होना या उनके अनुसार व्यक्ति या समूह को अवसर प्राप्त होना पूरी तरह से निरपेक्ष नहीं हो सकता। विभिन्न देशों में इन सबके बारे में पर्याप्त विविधता मिलती है। इसका एक स्पष्ट अभिप्राय यह है कि इनकी रक्षा और प्रोत्साहन की प्रणाली व्यवस्था भी होनी चाहिए। राष्ट्रीय सरकारें संस्थाएं, गैर सरकारी संस्थाएँ और समुदाय जब तक ऐसी व्यवस्था नहीं करते, ये अधिकार सिर्फ कागजी बने रहेंगे और बेमानी रहेंगे। इनका आम आदमी की जीवन की गुणवत्ता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा।

सैद्धान्तिक दृष्टि से यदि देखें तो आधुनिक मानव अधिकार की अवधारणा के दो प्रमुख आधार मिलते हैं। एक को हितवादी सिद्धान्त कहते हैं जिसका आशय यह है कि कुछ मूलभूत अर्थात् मानव स्वभाव में प्राकृतिक या नैसर्गिक रूप से जुड़े हितों की रक्षा, समर्थन और प्रोत्साहन करना ही इनका आधार है। दूसरा सिद्धान्त स्वेच्छा पर बल देता है और स्वतंत्रता की क्षमता – अपने द्वारा चुनने की छूट देता है। यदि हम चुनने या निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र हैं तब तो हमारे पास अधिकार है अन्यथा नहीं। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि क्या एक ही प्रकार का न्याय और कानून–व्यवस्था सभी लोगों के लिए और सर्वत्र उपयुक्त हो सकती है? क्या न्यूनतम जीवन स्तर का निर्धारण देश–काल से परे हो सकता है? नैतिकता के मानदंड से जुड़े प्रश्न भी सांस्कृतिक भिन्नता के दायरे में आते हैं। शायद इन प्रश्नों के स्पष्ट उत्तर अभी हमारे पास नहीं हैं, पर आज यह सर्वस्वीकृत हो चला है कि मानव अधिकार व्यक्ति से अपृथक्करणीय या अविच्छेद्य हैं और राज्य के अधिकार की पहुंच से परे हैं।

भारत जैसे विशाल, विविधतापूर्ण, विकासशील और पूर्वकाल में अंग्रेजों के उपनिवेश रह चुके देश के सामने आज कई गंभीर चुनौतियाँ उपस्थित हैं। यदि विचार करें तो अनुभव करेंगे कि जीवन की रक्षा, जीवनयापन की समस्या, यंत्रणा से रक्षा, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, शिक्षा, रोजगार, आत्मनिर्णय तथा राजनैतिक, सांस्कृतिक प्रवृत्ति जैसे जीवन के सभी पक्षों में कुछ न कुछ कमियाँ हैं। विशेषतः गरीबी की रेखा के नीचे स्थित और हाशिए पर स्थित समाज के विभिन्न वर्ग तरह–तरह की कठिनाइयों में जी रहे हैं। इन पर विशेष ध्यान देने की तत्काल आवश्यकता है। कहना न होगा कि भारत में सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य बड़ा ही जटिल है और इस जटिलता के कई ऐतिहासिक और सामाजिक कारण हैं जिन्हें समझने के लिए भारतीय जीवन दृष्टि पर विचार करना

आवश्यक है। भारत को एक 'बहुलता वाले समाज' और 'भिन्नता वाली संस्कृति' ठहराने के अपने तर्क हैं परन्तु कुछ सूत्र ऐसे भी विद्यमान हैं जो भारत में ज्ञात इतिहास की अवधि में निरंतर विद्यमान रहे हैं। सांस्कृतिक सम्पर्क, संस्कृतियों के मध्य आदान–प्रदान और समय के साथ आए परिवर्तन के बावजूद भारतीय चिन्तन या सोच में एक मूल दृष्टि अवश्य विद्यमान है जिस पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। इस दृष्टि से राह सूझने में हमें सहायता मिल सकती है।

भारतीय दृष्टि वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों, भक्तिधारा के कवियों से लेकर बुद्ध, महावीर, नानक, गांधी, अरविन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रमण महर्षि, स्वामीनारायण आदि जैसे अगणित विचारकों में ही नहीं लोक व्यवहार की रीति में, अशोक के शिलालेख में तथा अकबर की नीति जैसी उपलब्धियों में नाना प्रकार से प्रस्तुत हुई है। इन सबमें कुछ समान सूत्र दिखते हैं। इन सबमें विवेक, धर्म, सहनशीलता, स्वतंत्रता, समानता, आचरण की शुद्धता, अहिंसा, मृदु व्यवहार, संयम, निष्पक्षता, सत्य तथा करुणा पर स्पष्ट रूप से बल दिया गया है। सारे वैविध्य के पीछे अन्तर्निहित किसी एक परम तत्व की उपस्थिति ने शायद सबको आकर्षित किया है। समष्टि तथा व्यष्टि दोनों ही महत्वपूर्ण हैं पर इससे महत्वपूर्ण यह पहचानना है कि दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। इसी तरह व्यक्ति और समाज की इकाइयाँ भी परस्परनिर्भर हैं।

इस सृष्टि में सब कुछ परस्पर सम्बन्धित और सापेक्ष्य है। व्यक्ति और समाज, भक्त और भगवान, राजा और प्रजा सभी एक दूसरे पर आश्रित और सम्बन्धित हैं। समुद्र, वर्षा, कृषि और अन्न परस्पर जुड़े हैं। इनमें से कोई भी अकेला स्वयं में अपर्याप्त है, असमर्थ है। भारतीय दृष्टि में पारस्परिक सम्बन्ध अटूट और केन्द्रीय है और यह सम्बन्ध बना रहे यह जीवन के लिए आवश्यक है। 'धर्म' इसी सम्बन्ध को बनाए रखने या धारण करने का नाम है। मनुष्य अपनी बौद्धिक क्षमता के कारण यह सम्बन्ध अच्छी तरह देख सकता है और उसकी मनुष्यता इसी को पहचानने में है, नहीं तो उसमें और पशु में कोई भेद नहीं है : "धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः"। धर्म व्यवस्था बनाए रखता है, बांधता है। धर्म के जो लक्षण गिनाए गए हैं : धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये सभी उस सम्बन्ध को बनाए रखने के प्रयास या चेष्टाएँ हैं। धर्म मनुष्य होने का प्रमाण है। वह व्यक्ति और समाज के उत्कर्ष और कल्याण का कारण है। जैसा कि महाभारत के कर्ण पर्व में हम यह उल्लेख पाते हैं –

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यतस्याद् धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।

महाभारत कर्ण पर्व 68/58

यदि धर्म के लक्षणों पर ध्यान दें तो कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि ये सभी मानवीय क्षमताएँ हैं और प्रायः व्यक्ति के कर्म से संबंधित हैं, वह कर्म जो व्यक्ति और परिस्थिति से जुड़ा है – निरपेक्ष नहीं है। दूसरी बात यह है कि ये सभी दूसरों के अधिकार की रक्षा के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। ये वे परिस्थितियाँ हैं जिनके होने पर ही कोई व्यक्ति अपने अधिकार का उपयोग कर सकता है। उदाहरणार्थ यदि किसी में धैर्य नहीं है तो वह दूसरे को धक्का दे सकता है, जीवन हानि हो सकती है, चाहे कोई जीवन के अपने अधिकार की लाख दुहाई देता फिरे। इसी तरह यदि एक व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक पाने के लिए चोरी करता है तो दूसरे के अधिकार का हनन होता है। व्यवस्था की दृष्टि से अधिकार का कथन मात्र पर्याप्त नहीं है, उसकी रक्षा की व्यवस्था भी उतनी ही आवश्यक है।

भारतीय चिन्तन में उपर्युक्त पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। व्यक्ति के गुणों और पात्रता का विश्लेषण किया गया है। संस्कारों की व्यवस्था की गयी है। साथ ही चार पुरुषार्थों – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की बात भी की गयी है। स्मृतियों में दाय के अधिकार के अतिरिक्त आधुनिक अर्थ में 'अधिकार' पर प्रत्यक्ष-चर्चा कम ही प्राप्त होती है। व्याकरण में सूत्रों का अधिकार चलता है अर्थात् उनके प्रभाव क्षेत्र का नियमन किया जाता है जिसे 'सामर्थ्य' कहा जाता है। व्यक्तिकेन्द्रित अधिकार, निरपेक्ष भाव से, चर्चा में लगभग नहीं मिलता। स्मृतियों आदि में पूरी व्यवस्था दी जाती है और वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, नैमित्तिक धर्म, आपद धर्म की चर्चा है, जो व्यवस्था में हमारी भागीदारी का निर्देश देते हैं। दण्डनीति और राजनीति में राजा और प्रजा के कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है तथा राजधर्म का विस्तृत उल्लेख है। ये सभी विभिन्न व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा की चिन्ता को रेखांकित करते हैं। महाभारत में मानुष धर्म और आनृशंस्य की चर्चा अवश्य है। कहा गया है :

"नानृशंस्यं परो धर्मः"
और
"न मानुषात् परो धर्मः"

महाभारत का युद्ध धर्म की परीक्षा के रूप में देखा जाता है।

भारतीय संकल्पना के बारे में समष्टि और व्यष्टि का आपसी सम्बन्ध विचारणीय है। व्यष्टि न निरपेक्ष इकाई है और न समष्टि को ही मात्र व्यष्टियों का योग कहा जा सकता है। समष्टि को एक चेतन शरीर और व्यष्टि को उस शरीर के अंग के रूप में देखा गया है। इसीलिए इंडिविडुअल (Individual) या व्यक्ति हमारे समाज में नहीं मिलता। अपने पराये का भेद नहीं करने का निर्देश दिया गया "अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम्"। इसका एक अर्थ यह भी है कि जो मेरा है वह केवल मेरा नहीं

है, उसमें सबका हिस्सा है। 'मैं' का निर्माण अन्य की सहायता से होता है या 'मैं' अन्यों में ही जीता है। दूसरी ओर सबमें अपने को देखना या व्यष्टि का विस्तार ही समष्टि है। गीता में कहा गया –

'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु ज्ञानम् तद् विद्धि सात्विकम्'।

गीता में जो अव्यय भाव की बात की गयी उसमें भी यही विचार व्यक्त किया गया है कि 'अपने को सबमें देखो'। इस तरह व्यक्ति और समुदाय की पारस्परिक साझेदारी के ही आधार पर हम एक अच्छे समुदाय और सामाजिक जीवन की कल्पना कर सकते हैं। समष्टि की भी यह मजबूरी होती है कि वह व्यष्टि के स्तर पर आए। विराट और लघु दोनों के बीच संवाद स्थापित होना चाहिए।

यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि भारतीयता, वैचारिक रूप में अनेक जड़ों वाली है। वह 'सामासिक' कही जाती है, पर वह वस्तुतः अतिक्रामी है। कबीर को लें तो कह सकते हैं – "हिंदू तुरुक दोऊ मरम न जाना"। इसका विकास बरगद की नाईं हुआ है। शाखाएँ ऊपर जाती हैं फिर नीचे आती हैं और फिर ऊपर को जाती हैं। यह क्रम चलता रहता है। आज भारतीय समाज में अनेकानेक परंपरायें हैं जो एक दूसरे की स्वीकृति के साथ जुड़ कर आगे बढ़ रही हैं।

सत्य की खोज और 'सनातन' और 'शाश्वत' के विचारों ने भारतीय मानस को बड़ा आकर्षित किया है। ज्ञान के प्रति समर्पण, वह ज्ञान जो तर्क से परे जाता है – वह जो आत्म अतिक्रमण करता है श्रेष्ठ माना गया है। ऐसा ज्ञान सर्वमयता की ओर या सर्वात्म भाव की ओर आगे बढ़ता है। इस सर्वात्मभाव का मानवीय आधार और उत्स करुणा है। बुद्ध ने करुणा की शक्ति को परखा था। इस दृष्टि में जीवन मात्र भोग्य नहीं है, वह भोक्ता भी है और भाव भी। आज बाजार के बढ़ते प्रभुत्व के चलते उपभोक्ता की दृष्टि ही प्रबल होती जा रही है। इसका विस्तार मानवीय रिश्तों तक होता जा रहा है। लाभ–हानि के पलड़े पर हम संबंधों को भी तोलने लगे हैं। भारतीय दृष्टि में संबंधों को केन्द्र में रखा गया है और स्व के विगलन की बात की गयी है।

जीवन का प्रयोजन क्या हो? इसका समाधान है धर्मानुकूल आचरण। धर्म वह है जिससे व्यक्ति का व्यावहारिक अभ्युदय भी हो और आध्यात्मिक उत्थान भी :

यतोभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः

इसी व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चार पुरुषार्थों की संकल्पना की गयी। इन चार पुरुषार्थों में अर्थ और काम को स्थान मिला पर धर्म और मोक्ष के पुरुषार्थों के बीच। वे स्वतंत्र या निरपेक्ष कदापि नहीं हैं। समृद्धि और कामनाएं रखना मनुष्य जीवन का स्वाभाविक हिस्सा है पर वह सर्वोपरि और निरंकुश रूप में यह

एकांत भाव से नहीं। धर्म की परिधि में ही उनका सेवन हितकर है। हमें याद दिलाया गया है :

अजरामरवत्प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इवकेशेषु मृत्युनाधर्ममाचरेतः।।

अर्थात् अपने को अजर–अमर मान कर विद्या और अर्थ की साधना तो करो पर यह भी याद रखो कि मृत्यु तुम्हारे केश पकड़े हैं और धर्म का आचरण करो। मनुष्य पशुता से दिव्यता की ओर आगे बढ़े। असत् से सत की ओर, मृत्यु से अमृतत्व की ओर, अंधकार या अज्ञान से प्रकाश की ओर ही मनुष्य के जीवन का विस्तार होना चाहिए :

असतो मा सद्गमय
मृत्योर्मामृतंगमय
तमसो मा ज्योर्तिगमय

'सुख' की चाह अर्थात् 'अच्छी तरह स्थापित होना' तभी संभव होगा जब हम 'स्वस्थ' हों – "अपने में स्थित हों"। आज केवल अपने अकेले सुख, एकांत सुख की उत्कट चाह उफान पर है पर साधन बंटे हुए हैं। इच्छाओं की निरंतर वृद्धि हो रही है पर संसाधनों की नहीं। उत्तम जीवन की आकांक्षा अभाव के सत्य के आगे बिखर रही है। इसका परिणाम घोर असंतोष है। सचाई यह है कि समष्टि का हित और व्यापक दृष्टि के बिना हमारा कल्याण संभव नहीं है। धर्म ही इस संभावना का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

मानव अधिकार की वर्तमान अवधारणा समानता और समता की बात करती है। व्यक्ति के प्रयोजन की सिद्धि पर जोर देती है और जीवन की सामान्य आवश्यकताओं – सम्पत्ति, शक्ति और प्रतिष्ठा की पूर्ति को महत्व देती है। यह अर्थ संग्रह और काम के पुरुषार्थ की श्रेष्ठता सिद्ध करती है। यह आधुनिक मूल्य है और उसका परिणाम है निजी और सार्वजनिक जीवन के बीच बढ़ती और गहराती हुई खाई। एकांत व्यक्ति की सिद्धि न श्रेयस्कर है और न संभव। हम जब तक दूसरों को जगह नहीं देंगे तब तक हमारे लिए भी अपनी जगह नहीं बनेगी।

भारतीय संकल्पना काम और अर्थ को नकारती नहीं है पर उन्हें धर्म से बांधे रखती है और उसकी इस बात में आस्था है कि परिवर्तनशील जगत का आधार कुछ ऐसा है जो शाश्वत है, अपरिवर्तनीय है। वह जीवन को 'यज्ञ' मानती है। वह श्रद्धा और संस्कार की बात करती है। माता–पिता, गुरु, ऋषि और प्राणियों के ऋणों की बात करती है। वह सामाजिक जीवन में शील पर बल देती है। वह परार्थ या दूसरे के कल्याण का साधन भी महत्वपूर्ण घोषित करते हुए सुझाती है – धरती को परिवार सरीखा मानो और विराट आत्मन् पर सब कुछ न्योछावर कर दो :

"वसुधैव कुटुम्बकम्"।
"आत्मार्थं पृथ्वी त्यजेत्"।

व्यक्ति का छोटा वृत्त विराट का भाग बन कर सार्थक होता है। विराट के उत्कर्ष में उसका सीमित स्व तिरोहित हो जाता है। व्यक्ति का अपना कुछ नहीं बचता। तभी तो कृष्ण ने अर्जुन को सर्वात्मा की ओर मोड़ देने को कहा:

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

सत्ता का अनुभव और गतिमयता – सत्य और ऋत दोनों जुड़े हैं। ऋत का विरोधी सत्य अनृत है और सत्य का विरोधी ऋत असत् है। धर्म का आधार सत्य है। वह उसी पर टिका है, पर बिना तप, त्याग और करुणा के वह सत्य गतिशील नहीं होगा। इस तरह की व्यापक चेतना का विकास जिसमें सत्य और ऋत दोनों हों भारतीय दृष्टि का केन्द्रीय आग्रह है।

विकास की प्रक्रिया का रचनात्मक उद्देश्य है। मनुष्य केवल तर्कशील 'होमो सेपिएन' मात्र नहीं है। भारत में तो 'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः' कहा गया अर्थात् मनुष्य पशु से अच्छा इसलिए है कि उसमें धर्म विद्यमान है। दूसरे शब्दों में व्यापक अस्तित्व की चेतना ही उसे मनुष्य बनाती है। शरीर की बात करें तो वह अभी भी स्वभावतः 'आहार निद्रा भय मैथुनं च' तक ही सीमित है। यही उसकी प्रकृति या स्वभाव है। पर यह सीमित भौतिक रचना विराट तक पहुंचने का माध्यम हो सकती है। सीमित से असीमित की यात्रा कठिन है असंभव नहीं, यह महात्मा गांधी हमें यथार्थ में दिखा चुके हैं।

आज मानव अधिकार की अवधारणा को भारतीय दृष्टि के व्यापक फलक पर रख कर देखने की आवश्यकता है जिसमें एकांगी नहीं वरन् भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति की संभावना निहित है। आवश्यकता है कि समाज और समुदाय को भी प्रतिष्ठा देने की तथा व्यक्ति को समग्र के आलोक में देखने की। संस्कार से अधिकार की पात्रता मिलती है। आज प्रजातांत्रिक संस्कारों की खोज और पुनराविष्कार की आवश्यकता है – शिक्षा उनमें से एक है, पर वही पर्याप्त नहीं है।

उन्नत और समग्र मानव जीवन व्यष्टि और समष्टि, लोक और लोकोत्तर दोनों को संतुलित करता है या साधता है। आशा है इसके लिए अवसर बनेगा। अधिकार पाने के लिए अधिकारी या पात्र बनना भी आवश्यक है। मानव अधिकारों की स्थापना के लिए पूरे समाज को पात्र बनना पड़ेगा। साथ ही वे स्थितियाँ निर्मित करनी पड़ेगी जिनमें ये अधिकार सुरक्षित रहें। इसके लिए संसाधन जुटाने पड़ेंगे। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के रूप में यदि हम इन अधिकारों को चाहते हैं तो समाज (के सदस्य) के रूप में उनके लिए आवश्यक कर्तव्य भी हमें करने ही होंगे। हमारी कामना है :

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सुखमवाप्नोतु मा कश्चित् दुःखभागभवेत्।।
सब कठिनाइयाँ पार करें,
सब कल्याणमय दिन देखें,
सब सुखी हों,
किसी को भी दुःख न हो।

******

राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष, आयोग के माननीय सदस्य श्री पी. सी. शर्मा (बीच में) साथ में (बांये से) उपमहानिरीक्षक, श्री सुधीर चौधरी, प्रो. नामवर सिंह (मुख्य अतिथि), आयोग के माननीय सदस्य, श्री आर. एस. काल्हा एंव संयुक्त सचिव, श्रीमती अरुणा शर्मा

जैन धर्म में मानव अधिकार संरक्षण के सूत्र

• प्रो. प्रेम सुमन जैन

हमारे सभी धर्मों में मनुष्य को केन्द्र में रखकर उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व के विकास की कामना की गई है। जैन धर्म में व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके विकास के लिए अहिंसक साधनों को अपनाने पर ही बल दिया गया है। भगवान महावीर ने लिंग, जाति तथा वर्ण के आधार पर भेदभाव न कर सभी को धर्म तथा शिक्षा का अधिकारी कहा है। जैन धर्म नारी की स्वतन्त्रता तथा सम्मान का भी प्रबल समर्थक है। भगवान महावीर का कहना है कि व्यक्ति को उसके जन्म से नहीं बल्कि कर्म से पहचानना चाहिए। 'जीओ और जीने दो' के इस स्वर्णिम सूत्र के द्वारा जैन धर्म अपनी उदारवादी अहिंसा की दृष्टि से समूचे विश्व के साथ सौहार्द सम्बन्ध स्थापित कर सभी को अपना बना लेता है।

मानव अधिकार के आधारभूत तत्व प्राचीन–चिन्तन और धार्मिक दर्शन न केवल व्यक्ति, समाज अपितु राज्य और शासक के कर्तव्य और दायित्वों का विधान करते हैं। अतः धर्म मानव अधिकारों का जन्मदाता है, जिसकी वैदिक व्याख्या आधुनिक युग में हुई है। कर्तव्य पालन और न्याय का सम्मान मानव अधिकारों के मूल स्तम्भ हैं। मानव अधिकारों के विकास में, उसकी अवधारणाओं की स्थापना में व्यक्ति, समूह, राज्य, स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और अहिंसक आचरण आदि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

प्राचीन धर्मों में धार्मिक और सामाजिक आचरण का केन्द्र बिन्दु मनुष्य के जीवन का अस्तित्व और उसके व्यक्तित्व का विकास रहा है। इसके लिए अनेक मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा प्रत्येक धर्म में की गयी। उनमें प्रेम, करूणा, मित्रता, सत्य–व्यवहार, सद्गुणों का विकास, आत्मशक्ति का जागरण, नैतिक जीवन का पालन, अपरिग्रह एवं सहिष्णुता, पुरुषार्थ पालन आदि की प्रमुखता है। इन्हीं मानवीय मूल्यों से महात्मा गांधी की प्रतिज्ञाएं और मानवाधिकारों तथा संवैधानिक मूल अधिकारों का घनिष्ठ सम्बंध है।

जैन धर्म व्यक्ति स्वातन्त्र्य और आत्म–विकास का समर्थक धर्म है। उसमें न केवल मानव के जीवन रक्षण और विकास की स्वीकृति है, अपितु वह जीवमात्र की

• जैन धर्म विभाग, मोहन लाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

व्याख्या करता है। अतः स्वयमेव जैन धर्म में समता, समानता, स्वतन्त्रता, पुरुषार्थ, अस्पृश्यता–निवारण और नारी सम्मान आदि मानवीय अधिकारों की रक्षा के सूत्र सुरक्षित हो गये हैं। भगवान महावीर ने कहा है कि 'एकका मणुस्स जाई' मनुष्य जाति एक है, उसमें ऊँच नीच का भेदभाव नहीं किया जा सकता। आत्म–विकास की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति या जीव न हीन है और न विशिष्ट–'णो हीणे णो अइरिक्ते'। अतः जैन धर्म के मानव अधिकार सम्बन्धी सूत्रों की व्याख्या मानव अधिकारों की व्यापकता को समझने में मददगार सिद्ध होगी।

जैन धर्म के इतिहासों में आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने प्राणिमात्र के विकास और संरक्षण के लिए असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और कला इन छह जीविकोपार्जन के साधनों का निर्माण किया। उन्होंने बिना लिंग भेदभाव के शिक्षा का अधिकारी बेटे और बेटी दोनों को माना। ऋषभदेव के बेटे बाहुबली ने अपने राज्य की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की रक्षा के लिए अपने बड़े भाई भरत की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का विरोध किया। किन्तु इसके लिए उन्होंने अहिंसक प्रतीक साधनों को अपनाया ताकि निरपराधी मानव, पशुधन आदि का हनन न हो। जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ ने व्यक्तिगत स्वार्थ और भोजन के स्वाद के लिए निरपराध पशु–पक्षियों के आहार का विरोध किया और तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने धार्मिक अनुष्ठानों में धार्मिक व्यक्तियों द्वारा की जा रही जीव हिंसा का विरोधकर सर्प आदि जंतुओं की रक्षा को प्राथमिकता दी।

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का जीवन मानवीय मूल्यों और अधिकारों की रक्षा में ही व्यतीत हुआ। उन्होंने हिंसक धार्मिक यज्ञों का विरोधकर प्राणी मात्र को जीने का अधिकार प्रदान किया। उन्होंने कहा कि कोई प्राणी किसी के घात द्वारा मरना नहीं चाहता। सभी अपना पूरा जीवन जीने की आकांक्षा रखते हैं। जैसे हमें पीड़ा प्राप्त करना अप्रिय और सुख प्राप्त करना अच्छा लगता है, वैसे ही सभी प्राणियों का यही अनुभव है। अतः उनकी रक्षा की जानी चाहिए। भगवान महावीर ने श्रावक के चार प्रकार के दानों में अभयदान की भी व्याख्या की। रोगमुक्त करना, किसी को भूखे नहीं सोने देना, हर किसी को शिक्षा का साधन प्रदान करना और प्राणी को निर्भय पूर्वक जीने देना ये चार प्रमुख कर्तव्य थे सुसभ्य नागरिक के। भगवान महावीर ने लिंग, जाति, वर्ण के आधार पर धर्म और शिक्षा के द्वार किसी के लिए बन्द नहीं किये। समाज के सभी वर्गों के लोग उनके शिष्य बन सकते थे। उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित मुनि हरिकेशी चांडाल की कथा अस्पृश्यता–निवारण का प्रबल उदाहरण है। नारी की स्वतन्त्रता और सम्मान की कहानी है–सती, चन्दनबाला का जैन साध्वी संघ की प्रमुख बनना। जैन धर्म के विगत हजारों वर्षों के इतिहास में मानव अधिकारों के संरक्षण के कई उदाहरण उपलब्ध हैं। आज भी जैन धर्म नागरिकों के कर्तव्यों के परिपालन में अग्रणी है। जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त इस दिशा में मार्गप्रशस्त कर सकते हैं।

मानवता का मूल्यांकन :

जैन कर्म–सिद्धान्त के प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि आत्मा ही अच्छे बुरे कर्मों की केन्द्र है। आत्मा मूलतः अनन्त शक्तियों की केन्द्र है। ज्ञान और चैतन्य उसके प्रमुख गुण हैं, किन्तु कर्मों के आवरण से उसका शुद्ध स्वरूप छिप जाता है। जैन आचार–संहिता प्रतिपादित करती है कि व्यक्ति का अन्तिम उद्देश्य आत्मा के इसी शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना होना चाहिये, तब यही आत्मा परमात्मा हो जाती है। आत्मा को परमात्मा में प्रकट करने की शक्ति जैन दर्शन ने मनुष्य में मानी है; क्योंकि मनुष्य में इच्छा, संकल्प, और विचार–शक्ति है इसीलिए वह स्वतन्त्र क्रिया कर सकता है, अतः सांसारिक प्रगति और आध्यात्मिक उन्नति इन दोनों का मुख्य सूत्रधार मनुष्य ही है। जैन दृष्टि से यद्यपि सारी आत्माएँ समान हैं, सब में परमात्मा बनने के गुण विद्यमान हैं; किन्तु उन गुणों की प्राप्ति मनुष्य–जीवन में ही संभव है, क्योंकि संयोग एवं संयम का जीवन मनुष्य भव में ही हो सकता है। इस प्रकार जैन आचार–संहिता ने मानवता को जो प्रतिष्ठा दी है, वह अनुपम है। जैन आगम ग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है कि अहिंसा, संयम, तप–रूप धर्म का जो आचरण करता है उस मनुष्य को देवता भी नमस्कार करते हैं; यथा–

धम्मो मंगलमुक्कट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं जमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।।

आत्म शक्ति की पहचान :

वर्तमान युग में समाज के प्रत्येक वर्ग के विकास की बात कही जा रही है। दलित वर्ग और पिछड़े वर्ग के साधन सुविधा जुटाकर उन्हें विकास के अवसर देने की चर्चा है। तीर्थंकरों ने कहा कि हमें इस जातिवाद की समस्या के मूल तक पहुंचना चाहिए। हम श्रेष्ठ वर्ग में होने का भ्रम पाल बैठे हैं। तीर्थंकर ने कहा कि जगत् में जाति से न कोई हीन है और न कोई विशेष अतिरिक्त है। सबकी आत्मा में एक समान विकसित होने की शक्ति है। अतः प्रत्येक व्यक्ति और प्राणी सभी एक ही जीव–जाति के हैं। बाकी जातियाँ बनावटी हैं। व्यक्ति के कर्मों के अनुसार उनके नाम हम रख देते हैं। भगवान् महावीर ने कहा है कि अपने कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होता है, जन्म से नहीं–

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होइ, खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा।।

जो जैसे कर्म करता है, वह उस समुदाय का व्यक्ति हो जाता है। कर्म से ही व्यक्ति महान बनता है, जाति से नहीं। समाज में व्याप्त वर्गभेद को मिटाते हुए महावीर ने लिंगभेद को भी नहीं माना। समाज और धर्म, विद्या और शिल्प, शासन और संयम

सभी क्षेत्रों में पुरुष के समान नारी भी बराबर की हिस्सेदार है। जैन धर्म ने व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये एक ओर तो जहाँ आत्म विकास का पथ प्रशस्त किया है, वहाँ दूसरी ओर उसने लोक–कल्याण के लिए सामाजिक मूल्यों का भी सृजन किया है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त ये तीनों मूल्य जैन धर्म के सामाजिक अनुसंधान के परिणाम हैं। आत्मसाधना में रत जैन चिन्तकों ने लौकिक व्यवस्था के आधारभूत तत्वों की उपेक्षा नहीं की। उनका अमर संदेश है कि अहिंसा की प्रतिष्ठा मनुष्य–मनुष्य में व्याप्त भेद को अस्वीकृत करने में है। प्राणीमात्र को सम्मान देने में है।

मानवता के दिव्य गुण :

जैन दर्शन के मूर्धन्य मनीषी आचार्यों ने श्रावक धर्म और श्रमण धर्म ग्रहण करने के पूर्व मानवता के दिव्य गुणों को धारण करना आवश्यक माना। सामान्य मानव से विशिष्ट मानव बनने के लिए आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम मार्गानुसारी के दिव्य गुणों को अपनाये। आगम व आगमेतर साहित्य का गम्भीर अध्ययन कर सर्वप्रथम धर्मबिन्दुप्रकरण ग्रन्थ में मार्गानुसारी के पैंतीस बोल पर आचार्य हरिभद्र ने चिन्तन प्रस्तुत किया। उसके पश्चात् उनके अनेक आचार्यों ने उन गुणों पर अधिक विस्तार से प्रकाश डाला। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र ग्रन्थ में उन गुणों पर अत्यन्त गहराई से भाष्य प्रस्तुत किया। ये पैंतीस गुण मनुष्य को तन से ही नहीं मन से भी मानव बनाने में पूर्ण सक्षम हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने 45 मार्गानुसारी गुणों और प्रवचनसारोद्धार में 21 गुणों की चर्चा भी की है।

प्राणी संरक्षण का मन्त्र अहिंसा :

जैन धर्म में समता, सर्वभूतदया, संयम जैसे अनेक शब्द अहिंसा आचरण के लिए प्रयुक्त हैं। वास्तव में जहां भी राग–द्वेषमयी प्रवृत्ति दिखलायी पड़ेगी वहां हिंसा किसी न किसी रूप में उपस्थित हो जाएगी। सन्देह, अविश्वास, विरोध, क्रूरता और घृणा का परिहार प्रेम, उदारता, और सहानुभूति के बिना संभव नहीं है। प्रकृति और मानव दोनों की क्रूरताओं का निराकरण संयम द्वारा ही संभव है। इसी कारण जैनाचार्य वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में समता और शान्ति स्थापित कर सकता है। इस धर्म का आचरण करने पर स्वार्थ, विद्वेष, सन्देह और अविश्वास का कहीं भी स्थान नहीं है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का परिष्कार भी संयम या अहिंसक प्रवृत्तियों द्वारा ही संभव है। कुन्दुकुन्द स्वामी ने बताया है–

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थ जिणमग्गे हवेई जदि संतिभावेण।। – बो.पा.गा.27

आगम ग्रन्थों में कहा गया है कि राग–द्वेष का अभावरूप समताचरण ही व्यक्ति और समूह के मूल्यों को सुस्थिर रख सकता है। आत्मोत्थान के लिए यह जितना

आवश्यक है, उतना ही जीवन और जगत् की विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए भी। वर्गभेद, जातिभेद आदि विभिन्न विषमताओं में समत्व और शान्ति का समाधान समता या समताचार ही है। मानवीय मूल्यों में जीवन को नियन्त्रित और नीतियुक्तबनाये रखने की क्षमता एकमात्र समता युक्त अहिंसा आचरण में ही है। युद्ध, विद्वेष और शत्रुता से मानव समाज की रक्षा करने के लिए हेतु विधायक शब्द का प्रयोग करें तो वह समाचार कुटुम्ब, समाज, शिक्षा, व्यापार, शासन संगठन प्रभृति में मर्यादा और नियमों की प्रतिष्ठा करता है, मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है और प्राणी जगत् में सुख–कल्याण का प्रादुर्भाव करता है। मूलाचार ग्रन्थ में समताचार की महत्ता बतलाते हुए लिखा है–

समदा समाचारो सम्माचारो समो वा आचारो।
सव्वास हिंसमाण सामाचारा दु आचारा।। – गा. 123

अहिंसा की मूलभावना प्राणिमात्र को जीने का अधिकार प्रदान करती है। अपने आप में जीना कोई जीवन है? वह तो एक मशीनी जीवन है। जो अपना होकर नहीं रहता, वास्तव में वही सबका होके जीता है। जैन संस्कृति के नियामकों का हृदय इसी भावना से अनुप्राणित था। इसलिए उन्होंने समवेत स्वर में कहा–सब जीव संसार में जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता क्योंकि एक गन्दगी के कीड़े और स्वर्ग के अधिपति इन्द्र दोनों के हृदय में जीवन की आकांक्षा और मृत्यु का भय समान है। अतः सबको अपना जीवन प्यारा है। इसलिए सोते–उठते, चलते–फिरते तथा छोटे–बड़े प्रत्येक कार्य को करते हुए यह भावना हर व्यक्ति की होनी चाहिए कि जब मेरी आत्मा सुख चाहती है तो दूसरों को भी सुख भोगने का अधिकार है। जब मुझे दुख प्यारा नहीं है तो संसार के अन्य जीवों को कहाँ से प्यारा होगा? अतः स्वानुभूति के आधार पर हिंसात्मक प्रवृत्तियों से हमेशा बचकर रहना चाहिये। जियो और जीने दो, अहिंसा का यह स्वर्णिम सूत्र उसी सर्वभूतदया की भावना से प्रसूत है, जहां जीव के सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। अन्य संस्कृतियों में करूणा की भावना अवश्य है, प्रसंगवश हिंसा–विरोधात्मक उपदेश भी दिये गये हैं, किन्तु उनमें जैन धर्म की इस उदारता की मिसाल पाना कठिन है। इसलिए शायद जीवदया की क्रिया सबसे श्रेष्ठ एवं चिन्तामणि रत्न के समान फल देने वाली मानी गयी है तथा अहिंसा के महात्म्य से मनुष्य चिरंजीवी; सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान, सुन्दर और यशस्वी होता है, यह स्वीकृत किया गया है।

अहिंसा समाजवाद और-साम्यवाद की नींव है। लोग देश में समाजवाद स्थापना की बात करते हैं। अहिंसा के महान् उद्घोषक तीर्थंकरों ने आज से हजारों वर्ष पहले समस्त विश्व में समाजवाद स्थापित कर दिया था। न केवल मनुष्यों को, बलिक विश्व के समस्त प्राणियों को समान मानना इससे भी बड़ा कोई साम्यवाद होगा? अहिंसा महाप्रदीप की किरणें विकीर्ण हों उद्घोष करती हैं, उस महामानव महावीर की वाणी गुंजती है– जो तुम अपने लिए चाहते हो, दूसरों के लिए, समूचे विश्व के लिए भी चाहो

और जो तुम अपने लिए नहीं चाहते, उसे दूसरों के लिए भी मत चाहो, मत करो। क्योंकि एक चेतना की ही धारा सबके अन्दर प्रवाहित होती है। अतः सबके साथ समता का व्यवहार करो, यही आचरण सर्वश्रेष्ठ है । इससे तुम्हारा जीवन विकार वासनाओं से मुक्त होता चला जायेगा और निष्पाप हो जायेगा।

जैनधर्म की यही उदार दृष्टि अहिंसा को इतना व्यापक बना देती है कि उसे समूचे विश्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में देर नहीं लगेगी। क्योंकि उसने संसार से परायेपन को हटाकर अपनत्व से जोड़ रखा है। संसार में परायेपन का ही अर्थ है--दुःख तथा हिंसा होना। और अपनत्व का अर्थ है--सुख एवं अहिंसा होना क्योंकि जब समूचा विश्व ही व्यक्ति का हो जाता है तो कौन उसे सत्य, शिव और सुन्दर नहीं बनाना चाहेगा? अतः प्रत्येक प्रयत्नशील मानव को दुःख के परिहार और सुख के स्वीकार के लिए जन संस्कृति की मूल देन अहिंसा को अपने जीवन में उतारना होगा। इस संघर्षमय जीवन से संतप्त मानव को अहिंसा की घनी और शीतल छाया में ही शान्ति मिल सकेगी, अन्यत्र नहीं।

अभय से अपरिग्रह, अशोषण :

तीर्थंकर महावीर इस बात को भली-भांति जानते थे कि आर्थिक असमानता और आवश्यक वस्तुओं का अनुचित संग्रह समाज के जीवन को अस्तव्यस्त करने वाला है। इसके कारण एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण करता है और उसको गुलाम बना कर रखता है। मनुष्य की इस लोभवृत्ति के कारण समाज अनेक कष्टों का अनुभव करता है। इसीलिए महावीर ने कहा--आर्थिक असमानता को मिटाने का अचूक उपाय है अपरिग्रह। परिग्रह के सब साधन सामाजिक जीवन में कटुता, घृणा और शोषण को जन्म देते हैं। अपने पास उतना ही रखना जितना आवश्यक है बाकी सब समाज को अर्पित कर देना अपरिग्रही पद्धति है। धन की सीमा, वस्तुओं की सीमा ये सब स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए जरूरी है। धन हमारी सामाजिक व्यवस्था का आधार होता है और कुछ हाथों में उसका एकत्रित हो जाना समाज के बहुत बड़े भाग को विकसित होने से रोकना है। जीवनोपयोगी वस्तुओं का संग्रह समाज में अभाव की स्थिति पैदा करता है। ऐसे परिग्रह के विरोध में महावीर ने आवाज उठाई और अपरिग्रह के सामाजिक मूल की स्थापना की।

अपरिग्रह के सम्बन्ध में तीर्थंकर महावीर की दृष्टि एकदम निर्मल है। दूसरों की वस्तुओं के हम इसलिए स्वामी होना चाहते हैं क्योंकि हम असुरक्षा में जीते हैं। हमें निरन्तर यह भय लगा रहता है कि इस वस्तु के न होने पर, इस नौकर या अंगरक्षक के न होने पर, इस महल या सवारी के न होने पर मेरा जीवन दूभर हो जायेगा। इसलिए इन सबका संग्रह करना है। दूसरी बात इसमें यह है कि व्यक्ति अपने सुख के सिवा दूसरे को सुखी नहीं देख सकता। जो देखते हैं वे दूसरों को दूसरा नहीं मानते।

इस कारण वस्तुओं का संग्रह करते समय दूसरे का हक छीनने का भी ध्यान नहीं रहता और ध्यान रहता भी है तो उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस कारण उन समस्त वस्तुओं में जिनमें व्यक्ति की सुरक्षा व सुविधा जुड़ी होती है, व्यक्ति का ममत्व हो जाता है। यह ममत्व का भाव ही अथवा मूर्च्छा का विकास ही परिग्रह है।

श्रमण साधकों का सोचना है कि मात्र बाह्य वस्तुओं के व्यवहार को सीमित कर देना या त्याग देना अपरिग्रह के भाव को नहीं ला सकता। इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति पहले अपनी आत्मा की शक्ति को भी पहचाने। उसकी पूर्णता से परिचित हो तो वह व्यर्थ की वस्तुओं से अपने को पूर्ण नहीं बनायेगा। वह जब स्वयं का मालिक बन जायेगा तो अन्य वस्तुओं व व्यक्तियों के मालिक बनने की उसे आवश्यकता नहीं रहेगी। अतः अपरिग्रही होने का अर्थ है आत्म की प्राप्ति। निर्मल व्यक्ति का संग्रह स्वयंमेव सबके लिए वितरित हो जाता है।

वैचारिक उदारता से अनुचित संघर्ष का अन्त :

मानवीय व आर्थिक असमानता के साथ-साथ वैचारिक मतभेद भी समाज में द्वन्द्व को जन्म देते हैं, जिनके कारण समाज रचनात्मक प्रवृत्तियों को विकसित नहीं कर सकता। वैचारिक मंथन मानव की सृजनात्मक मानसिक शक्तियों का परिणाम होता है। पर इसको उचित रूप में न समझने से मनुष्य मनुष्य के आपसी मतभेद संकुचित संघर्ष के कारण बन जाते हैं और इससे समाज की शक्ति विघटित हो जाती है। समाज के इस पक्ष को महावीर ने गहराई से समझा और एक ऐसे सिद्धान्त की घोषणा की जिसमें मतभेद भी सत्य को देखने की दृष्टियां बन गई और व्यक्ति समझने लगा कि मतभेद--दृष्टि पक्षभेद के रूप में ग्राह्य है, मनभेद के रूप में नहीं। वह सोचने लगा कि मतभेद संघर्ष का कारण नहीं किन्तु विकास का द्योतक है। वह एक उन्मुक्त मस्तिष्क की आवाज है। इस तथ्य को प्रकट करने के लिए महावीर ने कहा कि वस्तु एक पक्षीय न होकर अनेक पक्षीय है। इस वैचारिक उदारता के सामाजिक मूल्य से विचारों का मतभेद भी ग्रहणीय बन गया। मनुष्य ने सोचना प्रारम्भ किया कि उसकी अपनी दृष्टि ही सर्वोपरि न होकर दूसरे की दृष्टि भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। उसने अपने क्षुद्र अहं को गलाना सीखा। अनेकान्त के इस मूल्य ने सत्य के विभिन्न पक्षों को समन्वित करने का एक ऐसा मार्ग खोल दिया जिससे सत्य की खोज किसी एक मस्तिष्क की बपौती नहीं रह गई। प्रत्येक व्यक्ति सत्य के एक नये पक्ष की खोज कर समाज को गौरवान्वित कर सकता है। महावीर ने कहा कि ज्ञान की परिसमाप्ति वस्तु के किसी एक पक्ष को जानने में नहीं, किन्तु उसके अनन्त पक्षों की खोज में है। जैन धर्म की इस वैचारिक उदारता के मूल्य ने समाज में व्याप्त अनुचित संघर्ष को समाप्त कर दिया और लोगों को कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने के लिए आह्वान किया। अनेकान्त समाज का गत्यात्मक सिद्धान्त है जो जीवन में वैचारिक गति को उत्पन्न

करता है। संकीर्णताओं की बन्द खिड़कियों को खोलकर वह उदारता की ताजी हवा से समाज स्वास्थ्य को ठीक रखता है।

सही दृष्टि से सम्मान :

आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है कि जीवन के प्रति हमारी दृष्टि सही नहीं है। संसार के पदार्थों को, जीवों को, जीवन शैली को हम उस रूप में नहीं देखते हैं या समझते हैं जैसी वे हैं। इस मिथ्या दृष्टि के कारण ही विश्व की अन्य समस्याएँ हमारे सामने हैं। तीर्थंकर जैन साधकों के चिन्तन ने प्रमुख कार्य यही किया कि विश्व को समझने के लिए हमें सम्यक् दृष्टि प्रदान की। उन्होंने कहा कि हमको सर्वप्रथम यह समझना होगा कि संसार के सभी प्राणी, पशु–पक्षी, नारी पुरुष सभी में सम्मानपूर्वक जीवित रहने की इच्छा है, दुर्घटना या हिंसा से कोई मरना नहीं चाहता। यह भावना कीट–पतंग, पानी–वनस्पति, धरती–पहाड़ तक में है। अतः अपनी आत्मा के समान इन सबके जीवन को भी आदर और सुरक्षा देनी होगी।

समता की इस भावना के साथ ही हम अपनी जीवन शैली बनायें तो विश्व में अशान्ति नहीं होगी। तभी आचारांगसूत्र में कहा गया है कि–सव्वे पाणा न हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितोवेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा। इस सूत्र के अनुसार किसी को दास बनाना, पराधीन करना, शारीरिक और मानसिक संताप देना, शोषण करना आदि सभी अमानुषिक कार्यों पर संयम हो जाता है। आज की हिंसा, आतंकवाद और प्रदूषण को दूर करने के लिए भी हम ऐसे ही प्रयत्नों की बातें कह रहे हैं। निःशस्त्रीकरण का प्रयोग उन्हीं में से एक है। इस समतामय जीवनदृष्टि को प्राप्त करने से ही व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य और अपनी आवश्यकताओं को समझ पाता है।

प्रतिक्रमण और सामायिक : दूसरों के हकों की रक्षा

जैन साधना परम्परा में गृहस्थ एवं साधु सभी प्रतिक्रमण और सामायिक की साधना करते हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ है–अनधिकृत क्षेत्र में वापिस लौट आना। मनुष्य का मन, विचार, क्रिया वहां से खींच ली जाय, जहां वे किसी को बाधा पहुंचा रही हो, किसी के स्वभाव को विभाव में बदल रही हो। इतना अभ्यास मानव यदि प्रतिदिन करे तो वह कभी प्रदूषण का भागी नहीं हो सकता, कभी किसी के हक को वह नहीं छीन सकता। दूसरी क्रिया सामायिक की साधना है। व्यक्ति बाहर से अपने मन–वचन–काय को लौटाकर अपनी आत्मा के स्वभाव में स्थिर करे। सामायिक का अर्थ है कि विषमताओं पर विजय प्राप्त की जाय। आज की सबसे बड़ी समस्या द्वन्द्व और विषमता है। इसी से मनुष्य के भीतर अशान्ति है। इस अशान्ति को मनुष्य बाहरी शोरगुल से भूलना चाहता है। विश्व का ध्वनि–प्रदूषण मनुष्य के भीतर की अशान्ति का परिणाम है। यदि सामायिक द्वारा हृदय की अशान्ति, विषमता को कम किया जाय तो

भाग–दौड़ कम होने से ध्वनि प्रदूषण काफी हद तक कम हो सकता है। साधुजीवन में पांच समितियों और तीन गुप्तियों द्वारा भी मन, वचन, काय की क्रियाओं पर संयम किया जाता है। संयम की यात्रा कोई भी हो, उससे पर्यावरण में शुद्धता आयेगी।

समता :

जैन के प्रत्येक सिद्धान्त से समता उद्घोषित होती है। अहिंसा समत्व की पहली ओर सीधी सीढ़ी है। समस्त प्राणियों में एकता और समता का विस्तार ही अहिंसा है। विषमता को तिरोहित करना ही पर्याप्त है, समता तो है ही। असत्य, क्रोध, भय, लोभ व हास्यात्मक व्यंग्य के व्यवहार से विषमता जन्मती है। राग–भाव के असन्तुलन का परिणाम ही विषय लोलुपता है तथा परिग्रह तो स्पष्ट रूप से विषमता का प्रतीक है। इन समस्त विषमताओं के विनाश के लिए ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह द्वारा समता की साधना पूर्व समदर्शी पद तक पहुँच जाती है, वही जीवन का परम सत्य है, मोक्ष है।

विषमता का तिरोहण :

प्राकृत साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास विषमता से समता की ओर प्रवाहित हुआ है। उसमें राजाओं की कथाएं हैं तो लकड़हारों और छोटे–छोटे कर्म शिल्पियों की भी। बुद्धिमानों के ज्ञान की महिमा का प्रदर्शन है, तो भोले अज्ञानी पात्रों की सरल भंगिमाएं भी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय जाति के पात्र कथाओं के नायक हैं तो वैश्य और शूद्र जाति के साहसी युवकों की गौरवगाथा भी इस साहित्य में वर्णित है। ऐसा समन्वय प्राकृत के किसी भी ग्रन्थ में देखा जा सकता है। "कुवलयमालाकहा" और "समराइच्चकहा" इस प्रकार की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। नारी और पुरुष पात्रों का विकास भी किसी विषमता से आक्रान्त नहीं है। इस साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनमें पुत्र और पुत्रियों के बीच कोई दीवार नहीं खड़ी की गयी है। बेटी और बहू को समानता का दर्जा प्राप्त रहा है। अतः सामाजिक पक्ष के जितने भी दृश्य साहित्य में उपस्थित हुए हैं, उनमें निरन्तर यह आदर्श सामने रखा गया है कि समाज में समता का उत्कर्ष हो एवं विषमता की दीवारें तिरोहित हों। सब जीव समान हैं। देह और जीव में भेद–दर्शन की दृष्टि को विकसित कर इस साहित्य ने वैषम्य की समस्या को गहरायी से समाधित किया है। "परमात्मप्रकाश" में कहा गया है कि जो व्यक्ति देहभेद के आधार पर जीवों में भेद करता है, वह दर्शन, ज्ञान चरित्र को जीव का लक्षण नहीं मानता। यथा–

देहविभेइयं जो कुणइ जीवाहं भेउ विचित्तु।
सो ण विलक्खण मुणइ तह दंसण णाण चरित्तु।

इसी प्राणी मात्र की समता के कारण आचारांगसूत्र में पहले ही घोषणा कर दी गयी थी कि कोई प्राणी न हीन है और न ही श्रेष्ठ। ऊँच–नीच की भावना तो हमारे अहंकार ने उत्पन्न की है, जो त्याज्य है।

अभय से समत्व :

विषमता की जननी मूल रूप से भय है। अपने शरीर, परिवार, धन आदि सबकी रक्षा के लिए ही व्यक्ति औरों की अपेक्षा अपनी अधिक सुरक्षा का प्रबन्ध करता है और धीरे–धीरे विषमता की खाई बढ़ती जाती है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर ही "सूत्रकृतांग" में कहा गया है कि समता उसी से होती है जो अपने को प्रत्येक भय से अलग रखता है–

सामाइयमाहु तस्स जं जो अप्पाण भए ण दंसए

अतः अभय से समता का सूत्र जैन ग्रन्थों ने हमें दिया है। वस्तुतः जब तक हम अपने को भयमुक्त नहीं करेंगे तब तक दूसरों को समानता का दर्जा नहीं दे सकते। अतः आत्मा के स्वरूप को समझकर राग–द्वेष से ऊपर उठना ही अभय में जीना है, समता की स्वीकृति है।

अप्रतिबद्धता :

समता के विकास में एक बाधा यह बहुत आती है कि व्यक्ति स्वयं को दूसरों का प्रिय अथवा अप्रिय करने वाला समझने लगता है। जिसे वह ममत्व की दृष्टि से देखता है उसे सुरक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करता है और जिसके प्रति उसे द्वेष हो गया है उसका वह अनिष्ट करना चाहता है। प्राकृत साहित्य में इस स्थिति से बहुत सतर्क रहने को कहा गया है। किसी भी स्थिति या व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्धता समता का हनन करती है। अतः "भगवतीआराधना" में कहा गया है कि सब वस्तुओं से जो अप्रतिबद्ध है (ममत्वहीन), वही सब जगह समता को प्राप्त करता है–

सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं। – (भ.आ. 1683.)

इस अप्रतिबद्धता की शिक्षा आचारांगसूत्र में इस प्रकार दी जा चुकी थी कि आत्मजागृत व्यक्ति न तो विरक्ति से दुखी होता है और न किसी आकर्षण से मोहित होता है। वह न तो खिन्न होता है और न प्रसन्न। क्योंकि समता में उस के लिए सब बराबर हैं।

नारी की प्रतिष्ठा:

सन्तुलन की प्रवृत्ति जैन संस्कृति में केवल साधु और गृहस्थ जीवन में ही नहीं रही, मानवीय सम्बन्धों में भी व्याप्त है। मानव समाज की सृष्टि नर–नारी के समान सहयोग

से ही संभव है, चाहे वह जीवन में प्रवृत्ति का मार्ग हो या निवृत्ति का। नारी को अपना पूर्ण विकास करने की स्वतन्त्रता जैन संस्कृति में प्रारम्भ से रही है। मुनि–आर्यिका एवं श्रावक–श्राविका का विभाजन इस बात का प्रमाण है। जैन साहित्य में नारी का जो चित्रण हुआ है, उसमें हमेशा उसकी प्रतिष्ठा और स्वातन्त्र्य को सुरक्षित रखने का प्रयत्न हुआ है।

स्वतन्त्रता से सुख :

जीवन के सम्पूर्ण सुखों के मूल की व्याख्या स्वतन्त्रता शब्द में अन्तर्भूत है, स्वतंत्र होना पुण्यसंचय की सूचना है। कर्मबन्धन से बंधे हुए लोग मुक्ति की कामना से आध्यात्मिक अनुष्ठान करते हैं और सांसारिक जन भौतिक जीवन में अपराधीनवृत्तिता (पराधीन न होने) के लिए संघर्ष करते हैं, अपने बौद्धिक एवं आत्मिक स्तरोंपर से संसारी और मुक्षु स्वतंत्र होने के प्रयास में लगे हुए हैं। बन्धनग्रस्त का जीवन सुखमय नहीं हो सकता।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। –(नीतिसार)

भगवान महावीर ने मूक पशुओं की हिंसा को रोक कर निरीह पशुओं को प्राणों की स्वतन्त्रता दी। जीओ और जीने दो–कहकर उन्होंने सम्पूर्ण मानवजाति को आपस में दुखी न करते हुए स्वतंत्र जीवन की शिक्षा दी। आध्यात्मिक परमगुरू के रूप में उन्होंने मुक्ति मार्ग बताकर स्वतंत्रता के पथ का मार्गदर्शन किया। स्वतंत्रता जीवन को संवारती है। उद्देश्यपूर्ण जीवन के लिए स्वतंत्रता सहायक है। स्वतंत्र जीवन विकास कर सकता है। स्वतंत्रता सिंहवृत्ति है, सिंह प्रकृति के व्यक्तियों की निधि है।

स्वतंत्रता की पहली शर्त अनाक्रमण है। परस्पर में अनाक्रमण सन्धि ही व्यावहारिक स्वतंत्रता है। सर्वेषामविरोधेन पूजाकर्म समारभेत् अर्थात् पूजाकर्म सबके अविरोध से होना चाहिए। पूजा का अर्थ देवार्चन और श्रेष्ठ कर्म है। स्वतन्त्रता की पूजा भी दूसरों के अविरोध से की जानी चाहिए। दूसरे के आचरण का विघात किये बिना अपने आचरण का पालन करना वास्तविक स्वतन्त्रता है।

स्वतन्त्रता की रक्षा, व्यक्तिगत युद्ध:

स्वाधीनता बहुत बड़ी चीज होती है। रामायण, महाभारत और न जाने पुराणों की कितनी लडाईयां इसी स्वाधीनता के लिए लड़ी गयी हैं। दो भाईयों के बीच धरती के टुकड़े के लिए लड़ाई नहीं होती, स्वतन्त्रता, स्वाभिमान और मर्यादा की रक्षा के लिए संघर्ष होता है। वही भरत और बाहुबली के बीच हुआ। जब भरत और बाहुबली की सेनाएँ भिड़ने को आमने–सामने खड़ी हो गयीं तो चौथी शताब्दी का एक कवि कहता है कि बाहुबली ने भरत से कहा–हे चक्रवर्ती, साम्राटपने के लिए लाखों लोगों के वध से क्या फायदा? हार–जीत का निर्णय हम दोनों आपस में लड़कर कर लेते हैं। कितनी

बड़ी बात थी वाहुबली की। देश की स्वाधीनता की रक्षा और देशवासियों के प्राणों की रक्षा इन दोनों का निर्वाह करना तो कोई बाहुबली जैसे राजा से सीखे। दो देशों के बीच हुए आज तक के वे तमाम युद्ध सामूहिक रहे हैं। इतिहास लाखों लोगों के खून से लिखा गया है, किन्तु वाहुबली और भरत ने संभवतः पहली बार इस धरा पर युद्ध को व्यक्तिगत बनाया है। युद्ध व्यक्तिगत होते ही अहिंसक हो जाता है। उसकी उपलब्धि लोकोत्तर हो जाती है।

सार्वभौमिक भ्रातृत्व एवं मानव अधिकार की अवधारणा – भारतीय दृष्टि

• मदन गुप्त

शास्त्र व्यक्ति आत्मज्ञ भी हो, जरूरी नहीं है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति प्रेम ही सार्वभौमिक भ्रातृत्व का आधार है। भारतीय दृष्टि में प्रेम का इतना महत्व है कि "ढाई आखर प्रेम का, पढे सो पंडित होय", प्रेम का मर्म समझने वाले व्यक्ति को पंडित ही समझा जाता है। भ्रातृत्व का भाव तिरोहित होते ही अमानवीय आचरण का बोलबाला होने लगता है, मनुष्य–मनुष्य का दुश्मन बन जाता है। भारतीय दृष्टि समदर्शी शासक की पक्षधर है। ऐसा शासक जो मनुष्य–मनुष्य के बीच भेद न करे। इस धरती के संरक्षण के लिए मनुष्य का सुसंस्कृत होना आवश्यक है। हमारे देश ने सार्वभौमिक भ्रातृत्व के विशेष गुण को महत्ता प्रदान की है। "सार्वभौमिकता" अपरिवर्तनीय है। इस भाव को संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था ने भी सराहा तथा अपनाया है। "सार्वभौमिक भ्रातृत्व" शांति का बीजमंत्र है। भ्रातृत्व पूर्ण आचरण से ही मानव अधिकारों की स्थापना और अनुपालन संभव है। सार्वभौमिक मानव अधिकारों की स्थापना करने वाला केवल गांधी दर्शन है। इसमें स्वस्थ भारतीय चिंतन समाविष्ट है तथा यह संपूर्ण मानव जाति के लिए कल्याणकर है।

भ्रातृत्व भाव भारतीय जीवन दर्शन का मूलाधार है। इसमें मनुष्य का मनुष्य के प्रति प्रेम ही नहीं किंतु समस्त धरातल पर सृजित सूक्ष्म और वृहद जीव–जन्तु वनस्पति आदि सम्मिलित है। सारी वसुधा को अपना कुटुम्ब कहने वाले व्यक्ति ही सार्वभौमिक भ्रातृत्व और मानव अधिकार का तत्व ज्ञान रख सकते हैं। उन्हीं से यह आशा लगाई जा सकती है कि वे सभी मानवों के अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं। जिस मनुष्य में दूसरे मनुष्यों के प्रति भ्रातृत्व की भावना नहीं होती है उन्हीं में मानव अधिकारों के प्रति उदासीनता परिलक्षित होती है।

मनुष्य बहुत बड़ा शास्त्रज्ञ हो सकता है। नाना प्रकार की विद्या में निपुण हो सकता है। उस पर भी ऐसा ज्ञानी मानव अधिकारों के प्रति उपेक्षा भाव रख सकता है। ऐसा इसलिए कि शास्त्रज्ञ व्यक्ति आत्मज्ञ हो ऐसा जरूरी नहीं है। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ मानव व्यवहार की सहज वृत्तियाँ हैं। इनसे जनित वासनायें – कामनायें मनुष्य

• संयुक्त सचिव (राजभाषा), राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, नई दिल्ली

को जो काम करने के लिए प्रेरित करती हैं, उससे दूसरों के अधिकार का अतिक्रमण असंभव नहीं है। व्यक्ति के स्तर से उठकर यही बात जब राज्य पर भी लागू होने लग जाए तो स्थिति विकट हो जाती है। कल्पना करें एक ऐसे राज्य की जिसकी आर्थिक उन्नति की वार्षिक दर 15 प्रतिशत हो, जहाँ प्रजातंत्र भी हो, जहाँ के नागरिक शिक्षित हों, वैभवशाली हों, किन्तु जहाँ जान–माल की सुरक्षा की गारंटी न हो। जान–माल की सुरक्षा की गारंटी तभी हो सकती है जब उस राज्य में मानव अधिकारों के बारे में सजगता हो और नागरिकों के मन में उनके प्रति आदर की भावना हो।

मानव अधिकारों का हनन करने वाले दण्ड के पात्र होते हैं। महाकवि तुलसीदास ने कहा है कि जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अबस नरक अधिकारी। रामराज्य की अवधारणा अपने आप में मानव अधिकारों की स्थापना का एक वृहद दर्शन है। आज का पूंजीवाद, साम्यवाद या अन्य कोई राजनैतिक विचार धारा उसके मुकाबले में सार्वभौमिक भ्रातृत्व और मानव अधिकारों की स्थापना करने में सर्वथा अक्षम है।

सूर्य की रोशनी, चाँद की चाँदनी, वायु, जल, अन्न, जीवन सभी मनुष्यों के लिए प्रकृति ने उपलब्ध कराए हैं। किसी मनुष्य को उनसे वंचित करना अनैतिक है, अधर्म है, असभ्य है। प्रकृति ने इन्हें समान रूप से सभी जीवों और वनस्पतियों को भी उपलब्ध कराया है। भारतीय दृष्टि में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का विचार अहमियत रखता है। अगर आदमी सिर्फ जरूरत भर का ले तो सभी प्राणियों को उसका अंश मिल जायेगा। शांतिपूर्वक सभी सहअस्तित्व का भोग कर सकेंगे। आधुनिक कहे जाने वाले युग में ऐसा विचार या ऐसी दृष्टि कितने रखते हैं? हालात, यहाँ तक आ पहुँचे हैं कि लोग चिंतित हैं कि अगला युद्ध पानी के लिए होगा। प्रकृति प्रदत्त संसाधनों पर एकाधिकार करके उनका, स्वार्थपरक दोहन, सार्वभौमिक भ्रातृत्व को तो आहत करता ही है किंतु मानव अधिकारों का जबरदस्त हनन भी करता है। नदियों में शहर का मलमूत्र विसर्जित कर मानव अधिकारों का हनन भारत में आज खुली चुनौती दे रहा है, जबकि हमारी दृष्टि सर्वेहिताय सर्वेसुखाय रहने के कारण नदियों को "पवित्र" मानती आयी है। पवित्र इसलिए कि देश के लंबे–चौड़े भू–भाग पर फैली इतनी सारी नदियों की सुरक्षा और संरक्षण की जिम्मेदारी पुलिस या अदालत ही नहीं हर व्यक्ति की है। पवित्र शब्द उनके मन में आस्था का भाव पैदा करता है, जो महत्वपूर्ण है। हमारी आस्था संविधान में है तथा कानून के शासन में है, तभी तो हम विधिपालक नागरिक की तरह जी रहे हैं।

भारतीय दृष्टि में सार्वभौम भ्रातृत्व से एक ऐसा समाज स्थापित होता है जहाँ कोई किसी से वैर नहीं करता। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब लोगों के बीच किसी भी प्रकार के आंतरिक भेदभाव न रहें। इसके लिए नागरिकों का शिक्षित होना तो आवश्यक है ही, उनका आत्मज्ञ होना भी जरूरी है। हमारे यहाँ आत्मा के शुद्धिकरण पर इसीलिए बल दिया जाता रहा है। इसी कारण आत्मा को परमात्मा का स्वरूप ही माना

गया है। आत्मा लुप्त हुई नहीं कि व्यक्ति अपने शास्त्र ज्ञान को शारीरिक बल, धनबल या शस्त्रबल की तरह इस्तेमाल करने लगता है। यहीं से शुरू होती है मानव अधिकारों को नुकसान पहुँचाने की प्रक्रिया। भारतीय दृष्टि से प्रेम का इतना महत्व है कि उस ढाई अक्षर के शब्द का मर्म जान लेने वाले की तुलना किसी भी ज्ञानी या शास्त्रज्ञ से करते हुए उसे पंडित कह दिया गया है। ऐसे समाज में सब लोग परस्पर प्रेम करते हैं।

समाज में सुख की कमी और दुःख की वृद्धि मानव अधिकारों के हनन से ही होती है। जब लोग अपना–अपना काम छोड़ कर दूसरों के काम में उलझने लगते हैं तो कानून का शासन प्रभावित होता है। अच्छे समाज की भारतीय संकल्पना ऐसी है जिसमें न तो किसी को किसी प्रकार का भय हो न कोई शोक हो और न ही किसी प्रकार का रोग सताता हो। सताने वाले रोग का अर्थ है एपीडैमिक टाइप के रोग जैसे एड्स, कैंसर, प्लेग, बर्डफ्लू आदि। हमारी धारणा रही है कि सब लोग अपना–अपना काम विधि सम्मत तरीके से करें तो इन रोगों और शोकों का जन्म ही नहीं होगा। ऐसा विधि द्वारा स्थापित व्यवस्था के अनुरूप आचरण करने से ही संभव है। इसकी बुनियाद है सार्वभौम भ्रातृत्व, जिस पर सारी व्यवस्था टिकी हुई है।

सार्वभौम भ्रातृत्व का मानव अधिकारों से ऐसा ही संबंध है जैसा अंधेरे अथवा उजाले से उल्लू नामक पक्षी का होता है। अंधेरे में उल्लू को अपने हित साधन का अवसर प्राप्त होता है किंतु उजाला होने पर वह छुप जाता है और अंधेरा होने की प्रतीक्षा करता रहता है। भ्रातृत्व का लोप होने पर अमानवीय आचरण का बोलबाला होने लगता है, मनुष्य मनुष्य का दुश्मन बन जाता है। किंतु भ्रातृत्व के उदय के साथ ही मानव का मानव के प्रति प्रेम–भाव बढ़ जाता है। हमारी तो दृष्टि ही सर्वहिताय सर्व सुखाय की है। दूसरे शब्दों में प्रेम की भारतीय अवधारणा अपने आप में मानव अधिकारों की संकल्पना को समेटे हुए है। हमारा प्रेम पूरी पृथ्वी को अपना परिवार मानकर व्यवहार करता है।

भारतीय दृष्टि की एक विशेषता यह भी रही है कि हम शासक से अपेक्षा रखते हैं कि वह समदर्शी हो। यानी मनुष्य–मनुष्य में भेद न करे। आज भी उच्च पदस्थ अधिकारी, मंत्री, संवैधानिक पद धारणकर्ता विशिष्टगण जो निष्ठा की शपथ लेते हैं तो उसका एक महत्वपूर्ण अंश समदर्शी होने की शपथ लेना होता है। जब वो प्रतिज्ञा करते हैं कि वो किसी भी आधार पर मनुष्य–मनुष्य के बीच भेदभाव नहीं करेंगे। समदर्शी शासक ही मानव अधिकारों का निर्वहन कर सकता है और दूसरों को भी उनका निर्वहन करने के लिए बाध्य कर सकता है। समदर्शी का भ्रातृत्व और भेद दृष्टि का भ्रातृत्व भारतीय साहित्य और ग्रंथों का वृहद विषय रहा है।

भारतीय साहित्य में नायक–नायिकाओं का समदर्शी भ्रातृत्व वर्णित है तो दूसरी ओर खलनायक–खलनायिकाओं का भेदभावपूर्ण भ्रातृत्व। दरअसल एक की समदर्शी दृष्टि उसे नायक या नायिका का स्थान प्रदान करती है और दूसरे की भेद दृष्टि उसे खलनायक या खलनायिका का दर्जा दिलवाती है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य ऐसे दृष्टांतों से भरे पड़े हैं। सारे भारतीय साहित्य ने समता के आचरण को ही सराहा है। विधि की भाषा में आजकल इसे समानता का अधिकार या Right to Equality कहते हैं।

बिना अपराध किए जिस राज्य में मानव को दण्ड दिया जाता हो, वहाँ अधिनायक शासन व्यवस्था होती है। जहाँ गुण को दोष बतलाया जाता हो और दुराचरण को सदाचरण कहा जाता हो, द्वेष का वातावरण हो, छल–कपट–पाखण्ड–दम्भ क कारण अच्छ काम भी तामसी भाव से किए जाते हों। वहाँ भ्रातृत्व को कुंठित कर द्वेषभाव की स्थापना हो जाती है। भारतीय वैचारिक परंपरा ने इसकी भर्त्सना की है।

विचारकों के बीच एक लंबे समय से, यह विमर्श जारी है कि संसार की रचना हुई है या उसका क्रमिक विकास। दोनों ही पक्षों ने अपने–अपने तर्क रखे हैं। लेकिन हम इतना विश्वास के साथ कह सकते हैं कि मानव समाज का सतत विकास हुआ है।

मानव संगठन की आवश्यकता ने समाज को जन्म दिया। अपनी प्रारंभिक संरचना में इसका स्वरूप अनाकर्षक रहा होगा, किंतु जैसे–जैसे इस संस्था का क्रमिक विकास होता चला गया, यह परिष्कृत होती चली गई। जंगल का एकाकी जीवन छोटी–छोटी ढाणियों में बदलने लगा, जिनका बाद में आस–पास में बनाया जाना गाँव का स्वरूप बना। होते–होते नगर बने, नगरों से राष्ट्र और राष्ट्रों से संयुक्त राष्ट्र। इन सभी ईकाईयों का नेतृत्व किया मानव ने। इस नेतृत्व के विकास की यात्रा भी कम ज्ञानवर्धक नहीं है। यह सिलसिला चला मुखिया से शुरू होकर पंच–सरपंच के माध्यम से राजा–महाराजा–नवाब–शहंशाह–तानाशाह–फासीवाद–नाजीवाद–मार्क्सवाद–जनतंत्र तक और पहुँचा गांधीवाद तक। इस बीच व्यक्ति के रूप में मानव के विकास की यात्रा भी कम रोचक नहीं है। पहले नग्न, फिर वल्कल वस्त्र धारण किये, उसने अपने लिए ऐसे–ऐसे परिधान बनाना शुरू किया कि उसकी उपलब्धियों ने सभ्यताओं और संस्कृतियों को जन्म दिया। मात्र आदमी से शुरू हुई इस यात्रा ने प्राणी को मानव बना दिया। उसके द्वारा इस परिवर्तन के साथ ही सुसंस्कृत मानव समाज का इतिहास शुरू होता है। किंतु इसको अभी भी सार्वभौमिक स्वरूप पाना है। जहाँ दुनिया में कुछ भू–भाग पर मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण संस्कृतियों की स्थापना हुई वहीं शेष भू भाग पर बर्बर, क्रूर, निर्दयी शासन भी रहा। पिछली ही सदी तक ऐसे–ऐसे युद्ध मानव समाज में लड़े गये हैं जिन्हें विश्व युद्ध कहा गया है। इस सदी की शुरूआत तो और भी ज्यादा अशुभ रही है। इस अमंगल से मानव समाज को पुनः भयंकर क्षति होने की आशंकायें बलवती होती जा रही हैं।

भारतीय दृष्टि ने पाया कि संसार द्वन्द्व से आच्छादित है। अच्छे के साथ बुरा मौजूद है। यह निष्कर्ष इस प्रमाण से अधिक बल पाता है कि पिछली दो शताब्दियाँ मानव और मानव समाज के त्वरित विकास और ह्रास दोनों ही की सदियाँ रही है। इसके पहले न तो कभी इतना और इतनी तेज गति से ज्ञान–विज्ञान–तकनीक–विधि–साहित्य–संस्कृति–सिनेमा–सूचना प्रौद्योगिकी का विकास हुआ था और न ही विनाशकारी अस्त्र–शस्त्रों का जिनमें एटम बम से लेकर Chemical Warfare, Biological Warfare जैसे विनाशकारी हथियार शामिल हैं। अभी भी रक्त पिपासु मानव की लालसा Weapons of Mass Destruction या Star Wars के लिए सामरिक हथियार पाना है। मुखिया देश इस होड़ में एक–दूसरे से आगे निकलने के लिए उतावले हैं। इनके मन्तव्य और कुकर्म सारी पृथ्वी को नष्ट करने पर तुले हुए हैं। इनके नापाक इरादे दुनिया को तहस–नहस करके खुद किसी और ग्रह पर जाकर बस जाने का है। अन्तरिक्ष में स्थापित स्पेस स्टेशन, प्रयोगशालायें इनके इन्हीं गुप्त मसूबों का संकेत देते हैं। ऐसी मनोवृत्तियों के प्रभाव से एक व्यक्ति अनेकों पर भारी पड़ता है। एक की मूर्खता पूरे मानव समाज के लिए दुःखद साबित हो सकती है।

यही परिप्रेक्ष्य है जिसमें हमें "भ्रातृत्व", "सार्वभौमिक", "मानव" तथा "मानव अधिकार" जैसे शब्दों में निहित संकल्पनाओं को समझना होगा। एक ही वाक्य में कहें तो बिना मानव के यह सारी धरती व्यर्थ होगी, नष्ट हो जाएगी। अगर इस, धरती का संरक्षण करना है तो मानव व्यवहार और आचरण का सुसंस्कृत होना पहली शर्त है। ऐसा केवल उचित संस्कारों से ही संभव है। मोटी–मोटी विधि संहितायें लिखकर या उन पर लंबी चौड़ी मीमांसायें लिख कर कम। इसका मूल मंत्र है "भ्रातृत्व" भाव। जब तक लोगों में संस्कारजन्य, भ्रातृत्व की भावना जन्म नहीं लेगी, उन्हें प्रेरित नहीं करेगी, उनका संचालन नहीं करेगी, उनका व्यवहार और आचरण असभ्य होगा, क्रूर होगा, निर्दयी होगा। परिणामतः लोगों के आपसी टकराव की संभावनायें बढ़ेंगी जिनकी परिणति युद्ध में होगी और यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि युद्ध विनाशकारी होता है किंतु शान्ति विकासकारी होती है। मानव की सुख – समृद्धि और वैभव की वृद्धि शांति में ही संभव है। युद्ध जीवन को नरक बना देता है और शांति उसे स्वर्ग।

प्रेम तो सभी करते हैं पर केवल अपनों से। अपनों से का तात्पर्य है अपने निकट सम्बन्धी जैसे परिवार, गाँव, राष्ट्र। हमारा सरोकार है सार्वभौमिक भ्रातृत्व। एक यही गुण है जो भारत को बाकी राष्ट्रों से विशिष्ट बनाता है। हम हजारों वर्षों से इस सिद्धांत को प्रतिपादित करते आ रहे हैं कि समस्त मानव समाज एक परिवार है। हम केवल अपने परिवार तक ही सीमित न रहें बल्कि सारी दुनिया को अपना परिवार–वत् मानकर चलें, उनसे वैसा ही व्यवहार करें जैसा आप अपने परिवार से करते हैं जिसमें माँ–बाप–पत्नी–बच्चे–भाई–बहिन सभी शामिल हैं। हम चाहते भी हैं कि दुनिया के सारे लोग ऐसे ही व्यवहार करें। सुख का यही एकमात्र साधन है क्योंकि यही

"सार्वभौमिक" है, शेष बदलता रहता है – ऋतुओं की तरह, काल की तरह जिसमें सुबह–दोपहर–शाम–रात्रि होती है, उम्र की तरह जो शैशव–कैशोर्य–यौवन–वृद्धावस्था को अपने में समाये हुए है। अगर कुछ अपरिवर्तनीय है तो सार्वभौमिकता, जो महाकाल की तरह है। जैसे कि दिन–रात होते ही आये हैं, होते ही जायेंगे। ऋतुएं बदलती आयी हैं, बदलती रहेंगी, उम्र बढ़ती रही है, बढ़ती रहेगी, किंतु वह तत्व कि ऋतु बदलती है, समय बदलता है, उम्र बदलती है, में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। महाकाल अपरिवर्तनीय है, काल चक्र घूमता रहता है, अतः बदलाव नज़र आता है। संसार में सब कुछ परिवर्तनीय नहीं है। कुछ ऐसा है जो बदलता रहता है। कुछ ऐसा है जो नहीं बदलता। इतने तारे, ग्रह, नक्षत्र, आकाश गंगायें अपने–अपने वृत्त में घूमते रहते हैं मगर एक दूसरे से टकराते नहीं, न ही अपनी धुरी छोड़ते हैं। उनका घूमना परिवर्तन लाता है, उनका न टकराना अपरिवर्तनीयता का प्रमाण प्रस्तुत करता है। हम आज इसी अपरिवर्तनीयता का विचार कर रहे हैं। हमारा विषय है "सार्वभौमिकता"। निश्चय ही भ्रातृत्व सार्वभौमिक है। इसके बिना कोई जीवन सुरक्षित नहीं है। इसकी आवश्यकता दशों दिशाओं में रहने वाले मनुष्यों को होती है। इसकी सार्वभौमिकता इसी से प्रमाणित है। यह सुखद अनुभूति है कि इस भाव के महत्व को संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था ने सराहा और अपनाया है। युद्ध की विभिषिका से जन्मी यह संस्था शांति के इस बीजमंत्र को अपना सकी। यही आधुनिक काल की सबसे बड़ी उपलब्धि है। उसकी प्रेरणा से सदस्य राष्ट्रों में इस भाव को विकसित करने के लिए मानव अधिकारों के संवर्धन, प्रचार तथा प्रसार के लिए संस्थाएं स्थापित की जा चुकी हैं, जैसा कि भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग।

सार्वभौमिक भ्रातृत्व और मानव अधिकारों के विषय में भारत की अवधारणा नितान्त मौलिक, प्राचीन और आज भी संगत है। हमें सार्वभौमिक लाभ के लिए इसकी विवेचना करनी चाहिए। सर्वमंगलम् मांग्लये की अवधारणा नितान्त भारतीय है। सब साथ–साथ चलकर साथ–साथ विचार करके आगे बढ़ें तो ऐसा भ्रातृत्व पैदा होगा कि सबको सारी पृथ्वी अपने ही परिवारसम लगेगी, जिससे मानव अधिकारों की अनुपालना स्वतः ही हो जायेगी। भ्रातृत्वपूर्ण आचरण से ही मानव अधिकारों की स्थापना और अनुपालन संभव है।

गांधी दर्शन अपने में सारा स्वस्थ भारतीय चिंतन समेटे हुए है। गाँधीवाद अन्य सभी राजनैतिक विचारधाराओं से विशिष्ट है। कारण कि यही अकेला राजनैतिक दर्शन है जो मानव अधिकारों की स्थापना, संरक्षण और मान्यता देने वाली विचार धारा है। इसके विपरीत हर राजनीतिक विचार धारा समाज के एक अंश मात्र के हितों के संदर्भ में ही विवेचनीय है। पूँजीवाद लाभ के लिए श्रमिक शोषण को निंदनीय नहीं मानता तो साम्यवाद श्रमिकों के अधिनायकत्व की स्थापना को अपना अभीष्ट मानता है। दोनों ही दर्शन सम्यक नहीं हैं, पूर्ण नहीं हैं, समूचे मानव समाज के अधिकारों के पक्षधर नहीं

हैं। सार्वभौमिक मानव अधिकारों की स्थापना करने वाला केवल गाँधीवाद है। इसीलिए उसे दुनिया भर में बड़े आदर से देखा जाता है, क्योंकि यही एक अवधारणा मानव समाज के लिए आधुनिक काल में कल्याणकर है।

राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम अकादमिक सत्र के अध्यक्ष, आयोग के कार्यकारी अध्यक्ष न्यायमूर्ति डॉ. शिवराज वी. पाटील (बांये से तीसरे) साथ में (बांये से) प्रो. गिरीश्वर मिश्र (दिल्ली विश्वविधालय), प्रो. वी. कुटुम्ब शास्त्री (कुलपति, राष्ट्रीय संस्कृत संस्धान दिल्ली) तथा श्री एम. एल. गुप्त (राजभाषा विभाग के संयुक्त सचिव)

भारतीय संस्कृति में मानवाधिकार : एक विहंगम दृष्टि

• सत्य नारायण साबत

भारतीय संस्कृति मनुष्य और प्रकृति में अभिन्न संबंध मानती है और मनुष्य के आत्मिक विकास के लिए मानवाधिकारों के संरक्षण तथा संवर्धन का अनुसमर्थन करती है। प्रत्येक अधिकार के साथ दायित्व और कर्तव्य भी जुड़े हैं। ये दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं। भारतीय संस्कृति "वसुधैव कुटुम्बकम्" के मूल भाव को समेटते हुए सभी प्राणियों के बीच सौहार्द एवं प्रेम की स्थापना पर बल देती है। संसार के सभी धर्मों, मतों, सम्प्रदायों, आदि में मानवीय दृष्टिकोण के साथ–साथ 'वसुधैव कुटम्बकम्' पर बल दिया गया है।

भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य प्रकृति का ही एक अविभाज्य अंग है जिसके आलोक में वह अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्वहन करता हुआ एक अप्रतिम सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करता है। पाश्चात्य विचारधारा के विपरीत भारतीय संस्कृति में व्यक्ति को परमात्मा का ही अंग माना गया है। इसके तहत मनुष्य समाज में रहकर सर्व कल्याण करता हुआ अपना चरम आत्मिक विकास कर सकता है। मानवाधिकार से तात्पर्य मानव मात्र को दिये जाने वाले ऐसे अधिकारों से है, जिन्हें अपना कर वह अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है। मानवाधिकार को उद्धृत करता हुआ प्रथम लिखित साक्ष्य 1215 ई. में पारित मैग्नाकार्टा को माना जाता है, जिसमें कुछ मूलभूत अधिकार प्रदत्त किये गये थे। पुनर्जागरण काल के प्रबुद्ध विचारकों हॉब्स, लॉक, रूसो, मिल्टन, गेटे, वाल्टेयर आदि ने मानवाधिकार को अपने लेखन में शामिल किया। जिसके चलते संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 10 दिसम्बर 1948 को मानवाधिकार दिवस घोषित किया गया। उनके संरक्षण एवं अनुपालन हेतु मानवाधिकार आयोग की स्थापना की गयी। इससे प्रेरणा लेकर भारत में 12 अक्टूबर 1993 को मानवाधिकार आयोग का गठन किया गया।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में मानवाधिकार की अवधारणाएं :

भारतीय संस्कृति का आधार "सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मॉ कश्चिद् दुःख भाग भवेत" है। जहां तक मानवाधिकार की बात है, तो यह चाहे वेद हो या उपनिषद या अन्य काव्य ग्रंथ सभी में यह सहज भाव से मिलता है।

• उपमहानिरीक्षक, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

ऋग्वेद के अनुसार मनुष्य अपने संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास सर्वहित की भावना से युक्त होकर ही कर सकता है।

भारतीय दर्शन के अनुसार व्यक्ति का प्रत्येक अधिकार सामाजिक दायित्वों से जुड़ा है। जन्म लेने के बाद से ही सामाजिक दायित्वों के रूप में वह मातृ ऋण, पितृ ऋण, ऋषि ऋण, आदि के अधीन होता है, जिसकी आपूर्ति वह समाज में अपने क्रमिक विकास के अनुरूप करता हुआ अपने जीवन काल में ही मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। वैदिक साहित्य में मानवीय सत्ता का स्वरूप 'सहस्त्र शीर्षा पुरुषः, सहस्राज्ञ सदस्रापत' श्लोक में मिलता है जिसका अर्थ है अनन्त मस्तक, अनन्त नेत्र एवं अनन्त पैरां वाला यह पुरुष एक समाज पुरुष है।

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुज्सजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।'

अर्थात मनुष्य के जीवन का लक्ष्य अधिकतम सुखों की अधिकतम प्राप्ति नहीं, अपितु सबका अधिकतम हित सुनिश्चित करना है। मनुस्मृति में मानवाधिकार शब्द का यद्यपि प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु मनु तथा अन्य प्राचीन भारतीय चिंतकों ने अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण द्वारा मानवीय अधिकारों के प्रति अपनी आत्मिक संवेदना को प्रदर्शित किया है। भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है "वसुधैव कुटुम्बकम" अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही परिवार सदृश है। यह भी प्राचीन शास्त्रों में कहा गया है: यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्," अर्थात् सम्पूर्ण विश्व एक घोंसला है।

मानवाधिकार किसी न किसी रूप में आदिकाल से ही भारतीय मानसिकता का अंग रहा है। भारतीय संस्कृति शुरू से ही आदर्शों से परिपूर्ण रही है। इसमें अच्छे कार्य के लिये स्वर्ग एवं निकृष्ट कार्य के लिये नरक भोग का प्रावधान वर्णित है। मनु ने शत्रुओं के साथ मानवीय व्यवहार करने का निर्देश दिया था। याज्ञवल्क्य स्मृति और नारद स्मृति दोनों में ही न्यायिक व्यवस्था का नया तरीका अपनाये जाने का विवरण मिलता है। हिन्दू धर्म की प्रमुख विशेषता यह भी रही है कि वेदकालीन प्राकृतिक कानून मतांधता से प्रमाणित नहीं हुये।

भारतीय समाज में मानवाधिकार सम्बन्धी महत्वपूर्ण सिद्धांत आरम्भ काल से ही आत्मसात कर लिये गये थे जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उनके जीवन का संरक्षण और अन्य अधिकार स्वयंमेव प्रदत्त और प्रमाणित थे। यहां तक कि युद्ध और महाविनाश के बाद बंदी बनाये गये शत्रुसेना के सैनिकों तथा बंदियों तक का निरुद्देश्य वध तब तक नहीं किया जाता था, जब तक कि उस पर आरोप तय न हो जाये तथा उसके बाद भी निर्धारित मात्रा से अधिक दंड उनको नहीं दिया जाता था। रामायण व महाभारत काल में राम को मर्यादा पुरुषोत्तम की संज्ञा तथा कृष्ण को योगीराज कहा गया। रामायण गृहस्थ परिवार के लिये दर्पण है, इसमें पात्रों के

माध्यम से आदिकवि वाल्मीकि ने बताया है कि पुत्र का पिता के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, सेवक का स्वामी के प्रति, भाई का भाई के प्रति क्या मानदंड होना चाहिये। महाभारत में युद्ध के दौरान कौरव व पाण्डवों द्वारा आपसी संघर्ष के बावजूद सायंकाल एक दूसरों के शिविर में जाकर कुशल क्षेम पूछना आपसी सौहार्द का नायाब उदाहरण है। धर्म का सार्वभौम लक्षण महाभारत में मानवाधिकार से भी आगे सम्पूर्ण प्राणि मात्र के अधिकार को दृष्टि में रखकर किया गया है।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् समाचरेत।।

उपरोक्त में प्राणिमात्र के हित करने का संदेश है। विश्व मानव धर्म की यह उदार परिभाषा है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में मानव के अधिकारों को दूसरे व्यक्ति के कर्तव्य के रूप में परिभाषित किया गया है। अधिकार एवं कर्तव्य एक मुद्रा के दोनों पार्श्व हैं, एक व्यक्ति का अधिकार ही दूसरे का कर्तव्य है।

स्वधर्म पालन द्वारा ही व्यक्ति अपने अधिकारों का प्रयोग करता हुआ अन्य प्राणियों के कल्याण करने के मार्ग पर प्रवृत रहता है। मानवाधिकार की परिधि में व्यक्ति अधिकार एवं कर्तव्य के साथ–साथ सम्पूर्ण पर्यावरण एवं प्रकृति के साथ अनायास ही समायोजित हो जाता है। आज विश्व में पर्यावरण संतुलन की चर्चा होती है, जबकि भारतीय संस्कृति में इसका उल्लेख अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता आया है।

जैन धर्म में मानवाधिकार का स्थान

जैन धर्म में नैतिकता तथा आचरण पर बड़ा बल दिया गया है। इसके लिये कहा गया है कि मन में विकार उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों का दमन आवश्यक है। अहिंसावाद को उतना महत्व संभवतः किसी ने नहीं दिया जितना जैन धर्म ने दिया है। प्राचीन वैदिक संस्कृति के अनुरूप जैन धर्म में भी प्रत्येक मनुष्यों को अधिकार दिलाने हेतु कर्तव्य पर विशेष बल दिया गया। अहिंसा, सदाचार, अस्तेय, अपरिग्रह एवं संयम पालन करते हेतु महावीर ने अपने अनुयायियों को निर्देशित किया। नैतिकता एवं आचरण पर जैन धर्म में भी बल दिया गया है। वस्तुतः जैन धर्म का उदय ही तत्कालीन समाज में बढ़ रहे आडम्बर, कुरीतियों और मानवाधिकार के हनन के विरोध स्वरूप हुआ था, अतः इसने समाज में अहिंसा व्रत का पालन करना, सामाजिक समरसता तथा मानवाधिकार संरक्षण का मार्ग प्रशस्त किया।

बौद्ध धर्म में मानवाधिकार के तत्व

बौद्ध धर्म में मानवाधिकार की अवधारणा भगवान बुद्ध के इस वाक्य में मिलती है, जिसमें उन्होंने कहा कि यदि कोई मनुष्य किसी अन्य को शारीरिक रूप से या शब्दों द्वारा ही आहत कर दें, तो उस मनुष्य में मानवीय गुणों का अभाव समझा जाता है।

मानवीय प्रतिष्ठा का आदर करना बौद्ध धर्म का मूल सामाजिक संदेश है। बौद्ध धर्म में सहनशीलता के अनेक उदाहरण इतिहास के पन्नों में मिलते हैं। अशोक महान के शिलालेखों में भी बौद्ध धर्म अनुयायियों के स्वतः स्फूर्त सेवा की भावना के उल्लेख से मानवतावादी रूख का पता चलता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार मानव अधिकार की विवेचना चौदहवें दलाईलामा ने 1959 में की, जिसे मानव अधिकार की प्रार्थना की संज्ञा दी गई। भगवान बुद्ध ने तत्कालीन सारी जातियों को अपने धर्म में दीक्षित करते हुए उनके लिये विनयपिटक के उपदेशों में सबके लिये एक समान नागरिक संहिता की व्यवस्था प्रदान की। वहीं दूसरी ओर कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जाति और जन्म के आधार पर नियत करने को निषिद्ध करते हुए कर्म के आधार पर विभाजन का निर्देश दिया। जिसके तहत प्रशासन में हर व्यक्ति को योग्यतानुसार पद प्राप्त होते थे। कौटिल्य ने सेना द्वारा आक्रमण करने के दौरान फसलों को नुकसान नहीं पहुंचाने का निर्देश दिया, जो उनकी मानवतावादी सोच का उदाहरण है। महान मौर्य शासक अशोक ने भी अपने शिलालेखों में मानवाधिकार के सिद्धान्तों को चिंहित करवाया है। मौर्यकाल में मानवाधिकार और मानव कल्याण से जुड़े तमाम पहलुओं पर राज्य द्वारा विशेष ध्यान दिया जाता था।

इस्लाम धर्म में मानवाधिकार

मानवाधिकार के संदर्भ में इस्लाम धर्म का मानना है कि मनुष्य को उसके सम्पूर्ण रूप अर्थात् सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप का समान रूप से विकास करना चाहिये। इस्लाम के अनुसार मनुष्य को अपने से निम्न वर्ग के प्राणियों व लोगों के प्रति न्याय और उदारता का भाव रखना चाहिए। पवित्र कुरान के अनुसार मनुष्य ईश्वर की प्रतिमूर्ति है, और सार्वभौम संवेदना का मूर्त रूप है। पाश्चात्य परिभाषा के विपरीत इस्लाम में स्वतंत्रता का अर्थ भिन्न है। स्वतंत्रता का अर्थ है, रजामंदी से स्वतंत्रता। इस्लाम की एक विशेषता यह है कि वहाँ बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन में प्रतिष्ठा अन्तर्निहित है, जिसे मानव अधिकार के सार्वभौम घोषणा पत्र बनाने वालों ने विवेक और अन्तरात्मा का नाम दिया है।

मध्ययुगीन चिंतन में मानवाधिकार की परिचर्चा

मध्ययुगीन चिंतन में मानवाधिकार की अवधारणा का विस्तृत स्वरूप मिलता है। साहित्य में इस काल को भक्ति काल के रूप में मान्यता दी गयी। मध्ययुगीन भारतीय समाज में सूफी संतों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन लोगों ने सामाजिक सेवा का रूप सैद्धान्तिक नहीं बल्कि व्यावहारिक रूप से देते हुये उसे परमात्मा की सेवा का एक मात्र साधन बताया। भक्ति आंदोलन के संत तथा सूफी संतों का मुख्य उद्देश्य सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों को समाप्त करना था। मानवतावाद में भक्त तथा सूफी संतों दोनों का विश्वास था। सूफी साधक समाज सेवा को ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन मानते थे। भक्ति आंदोलन में संतों ने इस पर इतना बल नहीं दिया।

सूफी एवं सिद्ध परम्पराओं में मानवाधिकार का स्वरूपः–

मध्ययुगीन भारतीय समाज में सूफी सन्तों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदायों में समन्वय की भावना पैदा करना था। उन लोगों ने सामाजिक सेवा का रूप सैद्धान्तिक नहीं बल्कि व्यावहारिक दिया और उसे परमात्मा की सेवा का एकमात्र साधन बताया। वेदांत, योग, क्रिया, निर्वाण आदि सिद्धांतों को अपनाकर अनेक हिन्दुओं तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों को आकृष्ट किया और उन्होंने बताया कि सूफीवाद न केवल इस्लाम पर आधारित है बल्कि उसमें हिन्दू तथा बौद्ध सिद्धान्तों का भी समावेश है।

सूफी सन्तों ने अपने शिष्यों में समाज सेवा, सद्व्यवहार और क्षमा आदि गुणों पर जोर दिया। उन लोगों ने जनता के चरित्र तथा उनके दृष्टिकोण को सुधारने का प्रयास किया। बर्नी ने स्पष्ट लिखा है कि निजामुद्दीन औलिया के प्रभाव के परिणामस्वरूप जनता के सामाजिक तथा नैतिक जीवन में बड़ा परिवर्तन हुआ।

मानवतावाद में भक्त तथा सूफी सन्त दोनों का विश्वास था। भक्तों ने दुख संतप्त प्राणियों को केवल उपदेश दिया। सूफी सन्तों ने उपदेश पर बल न देकर समाज सेवा के व्यावहारिक पक्ष पर जोर दिया। टूटे हुए हाथ तक रोटी के टुकडे को पहुँचाने का तात्पर्य मानव समाज की सेवा को व्यावहारिक रूप देना था। सूफी साधक समाज सेवा को ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन मानते थे; भक्ति आंदोलन के संतों ने इस पक्ष पर इतना बल नहीं दिया।

विभिन्न संप्रदायों में मौलिक एकताः–

सूफी मत की इन सभी शाखाओं में मौलिक सिद्धान्तों को लेकर कोई मतभेद नहीं दिखलाई पड़ता और इस प्रकरण के प्रारंभ में ईरान में विकसित सूफी दर्शन के सम्बन्ध में जो बातें कही गयी हैं, वे व्यापक रूप से इन सभी सम्प्रदायों के संतों के विषय में सही हैं। इन सम्प्रदायों के बीच भिन्नता प्रमुखतः खान–पान, पहनावा और उपासना–पद्धति सम्बन्धी कर्मकाण्ड को लेकर है। पं0 परशुराम चतुर्वेदी का निम्नलिखित कथन इस विषय में उल्लेखनीय है– (संदर्भ–1–परशुराम चतुर्वेदीः उत्तरी भारत की संत परंपराः पृष्ठ 70)

गुरूनानक के चिन्तन में मानवाधिकारः–

क्रांतिदर्शी, प्रचण्ड रूढ़िवाद विरोधी एवं अद्भुत युग पुरुष गुरूनानक का आविर्भाव उस समय हुआ जब देश में मुसलमानों का राज्य पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था। तत्कालीन समाज, शासन की धर्मान्धता, संकीर्णता, असहिष्णुता और क्रूरता के कारण विकृत हो चुका था। पंजाब पर इस्लाम का पूर्ण प्रभाव स्थापित हो चुका था। पानीपत, सरहिंद, पाकपट्टन, मुल्तान तथा कच्छ मुसलमान तथा सूफी सन्तों तथा फकीरों से

आच्छादित था। सभ्यता के ऐसे अन्धकार युग में पंजाब के गुजरानवाला जिले में गुरूनानक का जन्म एक खत्री परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था में पिता ने इन्हें हिन्दी, संस्कृत तथा फारसी की शिक्षा दी, क्योंकि पिता कालूचन्द इन्हें सरकारी नौकरी दिलाना चाहते थे परन्तु नानक अध्ययन के प्रति उदासीन थे।

नानक अपने परिवार, व्यवसाय तथा व्यक्तिगत आवश्यकताओं के प्रति इतने अधिक उदासीन थे कि सारा समय गम्भीर विषयों के चिंतन में ही व्यतीत करते थे। गृहस्थ जीवन में भी इन्हें किसी आनन्द का अनुभव नहीं हुआ। कुछ समय सांसारिक प्राणियों के कल्याणार्थ इन्होंने विविध यात्राएँ कीं। गुरूनानक के पूर्व जितने भी सुधार सम्बन्धी आन्दोलन हुए थे, वे प्रायः सभी साम्प्रदायिक थे और पारस्परिक वाद–विवाद में रत थे। इसका परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक अहमियता बढी। क्रान्तिदर्शी गुरूनानक न इन परिस्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। उनके हृदय में वैराग्य तथा भक्ति की मंदाकिनी सदैव प्रवाहित होती रही तथा मस्तिष्क में विवेक तथा ज्ञान का प्रचण्ड मार्तण्ड अहर्निश प्रकाशित रहता था। सिक्ख धर्म संस्थापक गुरू नानक एक महान समाज सुधारक थे उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से राजनीतिक धर्मान्धता का सामाजिक संगठन पर प्रभाव का अध्ययन किया। मुसलमान शासकों के धर्म परिवर्तन की नीति, तीर्थ यात्रा कर, धार्मिक मेलों, उत्सवों, जुलूसों पर कठोर प्रतिबन्ध, नये मन्दिरों के निर्माण तथा जीर्ण मन्दिरों के पुनरुद्धार पर रोक, हिन्दू धर्म एवं समाज के नेताओं का दमन, मुसलमान होने पर पुरस्कार वितरण आदि की भावना के कारण हिन्दू प्रभावित हुआ। इन अत्याचारों का प्रभाव तत्कालीन जनता पर बहुत अधिक पड़ा। हिन्दुओं का धर्म वर्ण आधारित धर्म मात्र बन कर रह गया। ब्राह्मण अपनी दैवी सम्पदा को त्याग कर पाखण्डपूर्ण धर्म में रत हो गये। क्षत्रिय अपने स्वभाविक शौर्य, भाषा तथा संस्कृति को त्याग कर उदर पोषण के निमित्त अरबी–फारसी के अध्ययन में रत हो गए।

जाति प्रथा का विरोधः

हिन्दू समाज में उच्च वर्ग के हिन्दुओं का अत्याचार शूद्रों पर अधिक था। कबीर की भांति नानक ने इसका विरोध तथा खंडन किया। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मनुष्य मात्र में स्थित परमात्मा की ज्योति को समझने की चेष्टा करो। जाति–पांति के बखेड़े में मत पड़ो। जाणहु ज्योति न पूछहु जाति आगे जातिन है। गुरूनानक के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में चारों वर्णों का समन्वित रूप होना चाहिए। जिस व्यक्ति ने इस समन्वित रूप को अपने में स्थापित कर लिया है वही परमात्मा का वास्तविक रहस्य जानता है। कोई जन्म से ब्राह्मण नहीं, बल्कि कर्म से ब्राह्मण होता है। मैकालिफ के अनुसार नानक ने स्पष्ट कहा था कि "मेरा सम्बन्ध किसी जाति से नहीं है।" यात्रा के समय वे शूद्रों के साथ रहने में सन्तोष तथा आनन्द का अनुभव करते थे। जाति प्रथा को समाप्त करने के लिए उन्होंने अपने सभी शिष्यों के लिए एक भोजनालय की

व्यवस्था की थी जिसे गुरू का लंगर कहते थे। उन्होंने अपने सभी शिष्यों को एक साथ भोजन करने पर जोर दिया। उन्होंने छुआछूत के भेदभाव को मिटाकर भ्रातृत्व का स्वर उठाया। चिश्ती सिलसिला के संतों तथा कबीर की भांति नानक का प्रमुख उद्देश्य हिंदू मुस्लिम सम्प्रदायों में समन्वय को स्थापित करना था। उन्होंने इसका अनुभव किया कि समाज के घाव को भरने के लिए धार्मिक मतभेद को दूर करना आवश्यक है। उनके अनुसार हिन्दू तथा इस्लाम धर्म एकेश्वर तक पहुंचाने के दो मार्ग हैं। अतः नानक ईश्वर को राम, गोविन्द, हरी, मुरारी, रब तथा रहीम के नाम से पुकारते थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन हिन्दू मुस्लिम समन्वय तथा एकेश्वर के सिद्धान्त के प्रतिपादन में व्यतीत किया। बिना जाति तथा साम्प्रदायिक भेदभाव के हिन्दू तथा मुसलमानों को अपना शिष्य बनाया और उन्हें एक साथ भोजन करने पर जोर दिया। स्त्रिया क प्रात सुधारवादा दृष्टिकोण होत हुए भी मुस्लिम शासन काल में भारतीय नारियों के ऊपर अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था। उनका सम्मान उनके परिवार में ही समाप्त हो गया था। गुरूनानक ने अपने धर्म में स्त्रियों के खोये हुए अधिकारों को वापस दिलाया। आध्यात्मिक साधनाओं और जीवन के अन्य क्षेत्रों में उनकी समानता पर बल दिया। इस प्रकार सिक्ख धर्म एवं नानक के चिन्तन में मानव के अधिकार एवं महिलाओं के मानव अधिकार संबंधी विचार स्पष्ट परिभाषित हुए हैं।

अशोक के धर्मलेखों में अभिव्यंजित बौद्ध धर्म में मानवाधिकार की अवधारणा

• डॉ0 बुद्धरश्मि मणि

सम्राट अशोक ने महात्मा बुद्ध के वचनों का पालन करते हुए अपने साम्राज्य में बसने वाली विभिन्न धर्म, जाति, सम्प्रदाय तथा भाषा–भाषी प्रजा के अधिकार और कर्तव्य की चिन्ता करते हुए अपने शिलालेखों में मानवाधिकार संबंधी विचार स्पष्ट ढंग से अभिव्यक्त किए हैं। अशोक के अनुसार जो व्यक्ति अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करते हुए दूसरे के सम्प्रदाय की निन्दा करता है, वह अपने सम्प्रदाय की अत्यधिक हानि करता है। अशोक ने धर्म और राजनीति को साथ–साथ परिचालित करते हुए प्रजा के धर्म और आचरण की रक्षा के अनुदेश निर्धारित किए, जिनका अनुपालन न होने पर दंड की व्यवस्था सुनिश्चित की। उन्होंने अपने साम्राज्य में 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की कामना की और सामाजिक व्यवस्था तथा सुख–शान्ति बनाए रखी। इनके काल में प्रजाजनों में कर्तव्य–निष्ठा और मानव–अधिकार के प्रति जागरूकता की भावना सुदृढ़ हुई तथा समाज के सभी वर्ग लाभान्वित हुए।

छठी शती ई पू0 में भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़ियों के विरुद्ध जो आन्दोलन हुए उनमें गौतम बुद्ध द्वारा प्रचारित मत का अति विशिष्ट स्थान है। समाज में समानता और बहुजन के हित और सुख की चिन्ता करते हुए अपने प्रथम उपदेश से ही भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को चारिका द्वारा लोक की अनुकम्पा, अर्थ, हित और सुख के उपार्जन के लिए कार्यरत होने के निर्देश दिए। बुद्ध वचनों में विनय से सम्बन्धित आचरण और नियमों का संकलन त्रिपिटक के विनय पिटक में उपलब्ध है जहाँ उच्चकुल के शाक्यों को भी निम्न कुल के उनके परिचर उपालि से विनय सम्बन्धी आचरण सीखने और अनुपालन के लिए निर्देश दिए गए हैं। स्वयं बुद्ध द्वारा जहाँ उपालि के आचरण की प्रशंसा करते हुए उन्हें अन्य कुलीन शाक्य भिक्षुओं से श्रेष्ठ माना गया है। बौद्ध संघ में कर्म और आचरण को प्रमुख मानते हुए अर्हतों की श्रेणियाँ निर्धारित की गईं और तदनुसार उनके अधिकार और कर्तव्यों का निरूपण हुआ। शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा कोई भी व्यक्ति बौद्ध मत के अनुसार अधिकारिक पद प्राप्त

• निदेशक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, दिल्ली

कर सकता है, न कि उच्च कुल में मात्र जन्म लेने से। जटा बढ़ा लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, न ही जन्म से, अपितु अपने कर्म से वह ब्राह्मण पद प्राप्त करता है, इस प्रकार कर्तव्य के पालन द्वारा ही मनुष्य वह अधिकार प्राप्त करता है जैसा कि धम्मपद के ब्राह्मणवग्ग में कहा गया है।

भगवान बुद्ध ने जनमानस के कल्याण के लिए आम बोली जाने वाली सरल भाषा का प्रयोग किया जिसे पालि कहते हैं। राजकुल में उत्पन्न सुशिक्षित व्यक्ति के रूप में संस्कृत भाषा का प्रयोग अपने सन्देशों को पहुँचाने के लिए कर सकते थे जिससे विद्वानों में उनकी ख्याति होती लेकिन उन्होंने सरल बोली का प्रयोग किया जिससे छोटे–बड़े सभी वर्ग के लोग लाभान्वित हो सकें और अपने कर्मों द्वारा जीवन की यथार्थता समझ सकें – अपना बौद्धिक विकास करते हुए ज्ञान के अधिकारी बन सकें। ज्ञान, सत्य, विद्या, उचित आचरण किसी एक वर्ग विशेष के लिए नहीं है और मानव–मात्र उसका अधिकारी है।

सम्राट अशोक ने बुद्ध के वचनों का पालन करते हुए भाषा सम्बन्धी वही नीति अपनाई और अपने साम्राज्य के कोने–कोने में और साम्राज्य के बाहर भी जन–सामान्य द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा का ही प्रयोग किया। समाजवाद और मानव–अधिकार की समझ के ऐसे उदाहरण अनूठे हैं।

अशोक ने जिस 'धम्म' का प्रचार किया वह किसी समूह, वर्ग अथवा सम्प्रदाय से कहीं ऊपर उठ कर अनुकरणीय आचरण था जिसके बीज बौद्ध धर्म के आन्दोलन द्वारा भारतीय संस्कृति में बोए जा चुके थे। इसी कारण अपने धर्मलेखों को जिनकी भाषा सामान्य प्राकृत अथवा पालि तथा जिनकी लिपि ब्राह्मी, खरोष्ठी, ग्रीक और अरमेक थी, अशोक धर्मलिपि कहता है। अपने प्रथम शिलालेख में ही अशोक ने आज्ञा दी कि उसके साम्राज्य में किसी भी जीव को मारकर हवन न किया जाए और न ही कोई समाज किया जाए क्योंकि सम्राट उसमें बहुत से दोष देखता है। दूसरे शिलालेख में अपने राज्य, निकटवर्ती दूसरे राज्य और सुदूर देशों में यथा यवन अन्तियोक के राज्य में भी मानव और पशु चिकित्सा की व्यवस्था करने का उल्लेख है। यह मानव अधिकार ही है कि अभिलेख में औषधियों, फल, मूल के रोपे जाने और मार्गों में कुएं और वृक्ष लगवाए जाने की आज्ञा सम्राट ने दी। साधु, माता–पिता, मित्र, ब्राह्मणों और श्रमणों की सेवा–दान के अधिकार को निरंतर चलते रहने के लिए राजुक और प्रादेशिक जैसे अधिकारियों की नियुक्ति की गई। धर्माचरण द्वारा अशोक ने भेरीघोष के स्थान पर धर्मघोष किया जिसका उल्लेख चतुर्थ अभिलेख में है। राज्य के तेरहवें वर्ष में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की गई जिससे प्रजा धर्माचरण में निरत रहे तथा यह घोषणा भी अशोक ने पंचम शिलालेख में की कि उसकी आने वाली पीढ़ी के राजा भी लोकहितकारी कार्य करेंगे और जो नहीं करेंगे वे पाप के भागी होंगे। शिलालेख के अनुसार धर्ममहामात्रों की नियुक्ति का उद्देश्य भृत्यों (शूद्रों), वैश्यों, ब्राह्मणों और इन्यों

(क्षत्रियों) में, अनाथों में, वृद्धों में, उनके हित और सुख के लिए तथा धर्मात्माओं की बाधाएं दूर करने के लिए था। इतना ही नहीं, धर्ममहामात्रों का यह भी कर्तव्य था कि वे बन्दियों को मुक्ति हेतु द्रव्यादि से सहायता दें तथा उनकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए उनकी मुक्ति के लिए प्रयास करें विशेषतः जब यदि वे वृद्ध हों अथवा पहले सेवा कर चुके हों अथवा सन्तान के भार से बँधे हुए हों।

अशोक ने अपने विस्तृत साम्राज्य में बसने वाली विभिन्न धर्म, जाति, सम्प्रदाय तथा भाषा–भाषी प्रजा के अधिकार और कर्तव्य की चिन्ता करते हुए उनके लिए संयम और भावशुद्धि की कामना की तथा सप्तम अभिलेख में कर्तव्यों के पालन न करने वाली अथवा आंशिक रूप से पालन करने वाली प्रजा की भर्त्सना भी की जो विपुल दान देने पर भी संयम, भावशुद्धता, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति से रहित थे।

सभी मनुष्य अपने–अपने सम्प्रदायों के समुचित पालन करने के अधिकारी हैं अतः देवताओं के प्रिय, प्रियदर्शी अशोक द्वादश शिलालेख में दान और पूजा से अधिक महत्व सभी सम्प्रदायों में सारवृद्धि को देते हैं जो वाक् संयम पर आधारित है। बुद्ध वचन के आर्य अष्टांगिक मार्ग में जिस सम्यक् वचन का उल्लेख है उसी पर आधारित अशोक की यह राजाज्ञा दूसरों के सम्प्रदायों को आदरणीय मानने के निर्देश देती है जिससे अपने सम्प्रदाय की वृद्धि होती है और दूसरे के सम्प्रदाय का आदर रूप से उपकार होता है। अशोक के अनुसार जो व्यक्ति अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करते हुए दूसरे के सम्प्रदाय की निन्दा करता है, वह अपने सम्प्रदाय की अत्यधिक हानि करता है इसलिए समवाय (सैद्धान्तिक मेल जोल) ही शुभ है – 'त समवाय एवं साधु'। दूसरों के धर्म को सुनना और सुनाना चाहिए। सम्पूर्ण प्रजा में मानवाधिकारों का उल्लंघन न हो इसलिए अशोक द्वारा किया गया यह प्रयास निश्चय ही स्तुत्य है।

प्रियदर्शी सम्राट अशोक के मानवाधिकार सम्बन्धी विचार उसके त्रयोदश शिलालेख में बहुत ही स्पष्ट ढंग से अभिव्यक्त हुए हैं। वहाँ सम्राट कलिंग युद्ध की विभीषिका का उल्लेख करते हुए एक लाख व्यक्तियों के मारे जाने, डेढ़ लाख व्यक्तियों के अपहृत होने के कारण कलिंग विजय से उत्पन्न अनुताप व्यक्त करता है। अविजित प्रदेश के जीते जाने पर असंख्य व्यक्तियों का वध, अपहरण, मरण वेदनादायक गम्भीर बात है और विशेषकर ब्राह्मण, श्रमण गृहस्थ तथा अन्य व्यक्तियों की सेवा भावना, सम्यक् व्यवहार और दृढ़ भक्ति सभी बाधित होती हैं और दुःख का कारण बनती हैं। इस प्रकार के सम्राट के अनुताप को सभी प्रजाजनों और अरवी जनों को भी बताना चाहिए जिससे वे राजापकार करने से बचें और मारे न जाएं। देवानांप्रिय सब प्राणियों के कल्याण, संयम, समाचर्या और सौजन्य की इच्छा रखते हैं। इस धर्मविजय को अपने राज्य और प्रत्यन्त के 600 योजन दूर राज्यों तक जहाँ चार यवन शासकों का शासन था तथा दक्षिण के राज्यों तक सम्राट ने फैलाया और यह सुनिश्चित किया कि उसकी धर्मानुशस्ति का लोगों द्वारा पालन हो। साथ ही अपने उत्तराधिकारियों के लिए अशोक

ने यह आज्ञा भी दी कि वे नई शस्त्र–विजय को विजय न मानें, यदि वे नई विजय में प्रवृत्त हों तो शान्ति और लघुदण्डता में रूचि रखें और उसी विजय को विजय मानें जो धर्म विजय है। वह इहलौकिक और पारलौकिक है। जो धर्मरति है वही पूर्णतः अतिरति है। वही इहलौकिकी और पारलौकिकी है।

यद्यपि सम्राट अशोक को कलिंग विजय से अत्यधिक अनुताप हुआ किन्तु फिर भी एक चक्रवर्ती सम्राट द्वारा की जाने वाली इस विजय को उसने कहीं भी मानवाधिकार का उल्लंघन नहीं माना और अन्ततः यही कहा कि सभी प्रजाजनों तथा अन्य लोगों को यह समझाया जाए कि वे राजापकार से दूर रहें जिससे इस तरह की घटना की पुनरावृत्ति न हो। अव्यक्त रूप से यह कहा गया है कि उचित आचरण पर चलने से प्रजाजनों का अधिकार बना रह सकेगा और सम्यक् जीवन यापन में बाधा नहीं आएगी। यह बौद्ध धर्म के अष्टांगिक मार्ग के अनुरूप है।

सम्भवतः कलिंग के स्थानीय प्रशासन में किसी तरह की ढील न होने पाए इसलिए उड़ीसा के धौली अथवा जौगड़ स्थानों पर प्राप्त होने वाले शिलालेख में त्रयोदश शिलालेख नहीं मिलता जिसमें सम्राट ने अपना अनुताप व्यक्त किया है। किन्तु सम्राट की महानता थी कि उसने अन्य स्थानों पर यह अनुताप व्यक्त किया। त्रयोदश शिलालेख के स्थान पर धौली और जौगड़ में दो पृथक शिलालेख मिलते हैं जिनमें अशोक सभी मनुष्यों को समान रूप से देखते हुए अपनी प्रजा मानता है और उन्हें उचित आचरण द्वारा जीवन यापन करने की सलाह देता है जिससे इहलोक और परलोक सुधर सके – "सव मुनिसामे पजा। अथ पजाये इच्छामि किं ति ये सवेण हितसुखेन युजेयु अथ पजाये इछामि किं ति ये सवेण हित सुखेंन युजेयु ति हिदलोगिक पाललोकिकेण हेवंमेव में इछ सवमुनिसेसु।" (द्वितीय पृथक् शिलालेख, जौगड़ संस्करण)।

रूपनाथ के लघु शिलालेख में अशोक ने कहा है कि ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय से वे शाक्य (बौद्धोपासक) हो गए किन्तु तीव्र पराक्रम (धर्मोद्यम) नहीं कर सके जो उन्होंने संघ की शरण में जाने के बाद एक वर्ष से कुछ अधिक समय से प्रारम्भ किया है। यह पराक्रम क्षुद्र और उदार सभी लोग करें और इस उद्योग के अन्तर्गत धर्मोद्यम के कारण यह पराक्रम बढ़ेगा और इसका प्रचार लोक कल्याणकारी होगा।

प्रजाजनों के अनुसरण के लिए अशोक ने द्वितीय स्तम्भलेख में 'धम्म' को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'अल्प पाप, बहुकल्याण, दया, दान, सत्य, शुचिता ही धम्म' है और विभिन्न प्रकार से सम्राट ने मनुष्यों एवं पशुओं पर अनुग्रह, प्राणदान तथा ज्ञान दृष्टि दी और धर्मलिपि लिखवाई जिसका अनुसरण प्रजा को करना चाहिए।

अशोक ने धर्म और राजनीति को साथ–साथ परिचालित करते हुए धर्ममहामात्र, रज्जुक आदि पदाधिकारियों को प्रजा के धर्म और आचरण की निगरानी और अनुदेशों के लिए नियुक्त किया था और अपने स्तम्भ धार्मिक महत्व के बौद्ध स्थलों पर स्थापित

करके बौद्ध संघ में भी भिक्षु–भिक्षुणियों के आचरण के लिए उचित निर्देश दिए जिनके अनुपालन के अभाव में दण्ड की व्यवस्था सुनिश्चित की। इस प्रकार मानव मात्र के अधिकार और कर्तव्य को समुचित रूप से नियंत्रित किया था जिससे साम्राज्य में बहुजन का हित और सुख परिबाधित न हो और सामाजिक व्यवस्था और सुख–शान्ति बनी रहे।

धर्म, अर्थ और राजनीति को समन्वित करते हुए सम्राट ने भगवान बुद्ध के जन्म स्थल लुम्बिनी ग्राम के निवासियों को फसल के कर में छूट देते हुए 1/6 के स्थान पर 1/8 कर लेने की व्यवस्था की और उन्हें यह विशेषाधिकार दिया जिसकी चर्चा लुम्बिनी के लघु स्तम्भ लेख में हुई है। इसी तरह कन्धार के अरमेक संस्करण के लघु शिलालेख में सम्राट द्वारा धार्मिक जनों पर अभियोग लगाने की प्रथा को बन्द करते हुए उन्हें यह विशेष अधिकार देने का उल्लेख है। सम्राट अशोक के उपर्युक्त प्रयासों से प्रजाजनों में कर्तव्य–निष्ठा और मानव–अधिकार के प्रति जागरूकता की भावना सुदृढ़ हुई।

ईसाई धर्म में मानव अधिकार की अवधारणा

• डॉ0 एम. डी. थॉमस

विविधता सृष्टि का बुनियादी मापदंड है। सृष्टि के सभी जीव भिन्न–भिन्न होने के बावजूद भी किसी न किसी रूप में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। मानवीय संस्कृति में हर व्यक्ति, हर समुदाय की अपनी अलग–अलग अहमियत है। फिर भी हम जिंदगी के विभिन्न पहलुओं में मेल–जोल का संतुलन कायम रखते हुए इंसानियत की कामयाबी का विजय दिवस मनाते हैं। लेखक के शब्दों में इंसानियत के अलौकिक जीवन का असली मापदंड और आधार यही है। संसार के सभी धर्म चाहे वह किसी भी ईश्वर में आस्था रखते हों वे सभी फ़र्ज और हक़ के बीच संतुलन कायम कर अपनी बुनियाद का झंडा बुलन्द करते हैं। ऐसी अवधारणा का चिन्तन और उसका विश्लेषण मानव अधिकार के संदर्भ में ईसाई धर्म का दृष्टिकोण है।

मानव अधिकार का संदर्भ सृष्टि की विविधता है। जैसा की ज़ाहिर है, विविधता सृष्टि की बुनियादी विशेषता है। सृष्टि के भिन्न–भिन्न तत्व अनेक होने के साथ–साथ एक–दूसरे से गुणात्मक फ़र्क लिए हुए हैं। खास तौर पर मनुष्य की संस्कृति में, हर व्यक्ति की ही नहीं, हर समुदाय की भी अपनी–अपनी अहमियत है। इन्सान की ज़िन्दगी सुचारू रूप से चल सके, इसके लिए ज़रूरी है कि व्यक्ति और व्यक्ति तथा समुदाय और समुदाय के बीच आपसी तालमेल रहे। ज़िन्दगी के विभिन्न पहलुओं में मेल–जोल का सन्तुलन रखना जीवन की कामयाबी की पहचान है। यही है अलौकिक जीवन का असली आधार। तालमेल के विविध पहलुओं में अधिकार और कर्तव्य का सन्तुलन मूल तौर पर अहम् है। जब यह सन्तुलन बिगड़ जाता है, मानव अधिकार एक सवाल बनकर खड़ा होता है।

मानव अधिकार ऐसी अवधारणा है जो मानव की ज़िन्दगी की बुनियाद में मौजूद तत्वों का विश्लेषण करती है। अधिकार इन्सान को ज़िन्दगी में अपनी संभावनाओं को विकसित करने के लिए सब कुछ कर सकने में समर्थ बनाता है। यह वस्तु, सम्पत्ति आदि ज़िन्दगी को जीने के लिए ज़रूरी तमाम चीज़ों पर होने वाला स्वामित्व है। उपर्युक्त चीज़ों को हासिल करने की प्रक्रिया भी अधिकार के भीतर आती है। किसी

• राष्ट्रीय निदेशक, सर्वधर्म समन्वय आयोग, दिल्ली

विशिष्ट कार्य करने की शक्ति या योग्यता भी अधिकार है। जो धर्म, न्याय, आदि की दृष्टि से उचित या ठीक हो, यही असल में हक़ है। इसकी प्राप्ति भी न्याय, प्रथा, आदि के मुताबिक़ होती है। हर किसी को अपना – अपना हिस्सा मिले, यही न्याय है। न्याय में ऐसे आचरण या व्यवहार का इन्तज़ाम है, जिसमें नैतिक दृष्टि से किसी प्रकार का अनौचित्य, पक्षपात या बेईमानी नहीं है। न्यायपूर्ण व्यवहार में समता का भाव है। संसार के सभी मनुष्यों का समान रूप से कल्याण हो, सब को उन्नत, सन्तुष्ट और सुखी होने की व्यवस्था मिले, यही अधिकार का मकसद है। मनुष्य के आदर्शों, स्वाभाविक गुणों, भावनाओं आदि का प्रतीक है मानवता। मानवता की प्रतिष्ठा का भाव मानव अधिकार की अवधारणा का मर्म है। जब यह पुनीत भाव भंग होता है तब मानव अधिकार की मांग एक प्रतिबद्धता का रूप ले लेती है और ऐसे आयोग या मिशन के रूप में बुलन्द होता है, जो मंज़िल पहुँचने तक अपने सफर में डटकर कायम रहता है।

मानव अधिकार की धारणा कर्तव्य की चर्चा से बिछुड़कर अधूरी रहती है। कर्तव्य के संदर्भ में ही अधिकार प्रासंगिक और कारगर है। अधिकार और कर्तव्य के तालमेल से मानव जीवन का सम्पूर्ण रूप उभरकर सामने आता है। एक अपने कर्तव्य का पालन करे, तभी दूसरे को अपना अधिकार हासिल होगा। हर कोई दूसरे का सम्मान करे, उसके आत्म–सम्मान को ठेस नहीं पहुँचाये और उसके व्यक्तिगत मामलों में हस्तक्षेप नहीं करे, ऐसा व्यवहार मूल कर्तव्य के मुताबिक ज़रूरी है। कोई किसी का शोषण नहीं करे और कोई किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाये, यह भी कर्तव्य–पालन के तरीके हैं। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अपने से छोटा नहीं माने, कोई समुदाय दूसरे समुदाय को हीनभावना से न देखे– ये बातें कर्तव्य की माँगें हैं। यदि एक तरफ जीने का अधिकार है तो दूसरी तरफ जिलाने का कर्तव्य भी है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 15 के अनुसार, 'राज्य किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।' क़ानून, शासन और प्रशासन की तरफ से समान व्यवहार हर किसी का हक है। सबको सीखने, बढ़ने और सार्थक रूप से जीने के लिए समान अवसर प्राप्त हो, इसके लिए सबका सहयोग ज़रूरी है। मानव अधिकार और मानव कर्तव्य आपस में पूरक हैं और उनके सन्तुलित तालमेल की नींव पर ही इन्सानियत की इमारत खड़ी हो सकती है। सद्भाव और सहयोग से भरा–पूरा व्यवहार अधिकार और कर्तव्य के बीच का पुल है, जिससे होकर आपसी सफर तय होता है।

विविध धर्मों में मानव अधिकार की अवधारणा बहुत ही प्रासंगिक चर्चा है। सभी इन्सानों के अधिकारों की रक्षा करना धर्मों का अहम् फ़र्ज है। जोड़ने का नाम है धर्म। जुड़ने के लिए, चाहे ईश्वर से हो या इन्सान से, अधिकारों और कर्तव्यों का पक्का इन्तज़ाम चाहिए। धारण करना भी धर्म है। कर्तव्य के साथ–साथ अधिकारों को भी धारण किया जाना चाहिए। धारण करने के लिए अपने–अपने कर्तव्यों और अधिकारों

के प्रति सजग होना ज़रूरी है। गहरे अर्थ में, अपना स्वभाव और अन्तःकरण भी धर्म हैं। अधिकार–चेतना और कर्तव्य–भावना दोनों धार्मिक बोध की बुनियाद में मौजूद है। विविध धर्म–परंपराओं से बने सार्वभौम मूल्यों से इन्सान को अधिकार और कर्तव्य के समायोजन में सहूलियत मिले, धर्म–परंपराओं की यही सार्थकता है।

ईसाई धर्म में मानव अधिकार की अवधारणा की नींव बाइबिल में पायी जाती है। बाइबिल में इसकी चर्चा स्वतन्त्र रूप से न होकर समग्र रूप से की गयी है। इस विषय पर ईसाई दृष्टिकोण "ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाया', इस धारणा पर आधारित है (पवित्र बाइबिल, पुराना विधान, उत्पत्ति 1.27 पृ0 5)। इन्सान ईश्वर के सदृश बनाया गया है। ईश्वर का स्वभाव उस पर छाया रहता है। ईश्वर इन्सान में वास करता है; जिन्दगी के मुहावरों में व्यक्ति खासी शान में ईश्वर भी इन्सान के साथ सदा सफर करता है। (वही, नया विधान, मारकुस 4.35, पृ0 61)। बाइबिल की कुछ पुस्तकों के लेखक पौलुस पूछते हैं – 'क्या आप यह नहीं जानते कि आप ईश्वर के मन्दिर हैं और ईश्वर की आत्मा आप में निवास करती है' (वही, I कुरिंथी 3.16, पृ0 255, II कुरिंथी 6.16, पृ0 279)? ईश्वर का प्रतिरूप होकर इन्सान उस प्रतिष्ठा के लायक है, जो ईश्वर को प्रतीकात्मक तौर पर दिया जाता है। ईसा का कहना है – 'तुम मेरे इन भाइयों या बहनों के लिए, चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो, जो कुछ करते हो, वह तुम मेरे लिए ही करते हो' (वही, मत्ती 25.40 पृ0 45–46)। मतलब है – इन्सान की सेवा ईश्वर की पूजा के बराबर है। इस विचार से, ईश्वर का प्रतिरूप और प्रतिनिधि होकर हर इन्सान इज्जत और सम्मान का हकदार है। इन्सान इन्सान से सद्भाव और प्यार–मुहब्बत से जुड़ जाय, यही जीने का इन्सानी तरीका है। एक दूसरे को अंगीकार करे और एक दूसरे की सेवा करे – यह किसी की मेहरबानी नहीं है, बल्कि कर्तव्य और अधिकार दोनों का मिला–जुला रूप है। खुदा को किसी की इबादत की ज़रूरत नहीं है। हर इन्सान को जीने के लिए दूसरे का साथ मिले और अपनी ज़िन्दगी को कामयाब बनाने के लिए दूसरे का सहारा मिले, यही जीने की कला है। इन्सान के साथ ऐसे सद्व्यवहार में खुदा की असली इबादत सम्पन्न होती है। ऐसा व्यवहार, एक तरफ इन्सान का फ़र्ज है और दूसरी तरफ, उसका हक भी है। ऐसी धारणा मानव अधिकार के ईसाई दृष्टिकोण की बुनियाद है।

इन्सान–इन्सान में समभाव की भित्ति पर मानव अधिकार की ईसाई धारणा खड़ी होती है। समभाव ईसाई जीवन–दृष्टि का केंद्रीय विन्दु भी है। ईसा ने ईश्वर को पिता के रूप में महसूस किया और सभी मनुष्यों को उस पिता की सन्तान माना। जैसे किसी भी बाप के लिए अपनी औलाद बराबर महत्व की है, ठीक वैसे ही सभी मनुष्य ईश्वर के सामने समान महत्व के हैं। इन्सान–इन्सान में समभाव वास्तव में ईश्वरीय गुण है। ईसा ने अपने स्वर्गिक पिता के गुण को इन शब्दों में चित्रित किया – 'अपना स्वर्गिक पिता भले और बुरे, दोनों पर अपना सूर्य उगाता तथा धर्मी अधर्मी,

दोनों पर पानी बरसाता है' (वही, मत्ती 5.45, पृ0 8)। इतना ही नहीं, ऐसे आदर्श पिता के लायक बेटे के समान ईसा ने पूर्ण समभाव की वकालत करते हुए कहा – 'तुम पूर्ण बनो, जैसे तुम्हारा स्वर्गिक पिता पूर्ण है' (वही, मत्ती 5.45, पृ0 8)। समभावपूर्ण व्यवहार ही पूर्णता की सही परिभाषा है। इसी में धर्म और आध्यात्मिकता की चरम सीमा भी पायी जाती है। स्पष्ट है, समभाव में कर्तव्य–पालन और अधिकार–प्राप्ति का सुरक्षित इन्तज़ाम है।

समभाव की आत्मा प्रेमभाव है। प्रेमभाव की शुरूआत सद्भाव से होती है। जहाँ प्रेमभाव है, वहाँ समभाव है। प्रेम ही ज़िन्दगी का मर्म है। यही जीवन का पहला नियम भी। यदि इस नियम का बराबर पालन होता है, तो ज़िन्दगी में दूसरे नियमों की ज़रूरत नहीं होती। पौलुस इस नियम को 'हृदय पर अंकित नियम और 'अन्तःकरण का साक्ष्य' कहते हैं (वही, रोमी 2. 15, पृ0 233)। ईसा ने प्रेम को समर्पण का करार देकर कहा – 'इस से बड़ा प्रेम किसी का नहीं कि कोई अपने मित्रों के लिए अपने प्राण अर्पित कर दे' (वही, योहन 15.13, पृ0 172)। ईसाई जीवन की खास पहचान के रूप में उन्होंने अपनी मिसाल को ही बुनियादी तालीम के रूप में पेश करते हुए कहा – 'जिस प्रकार मैंने तुम लोगों को प्यार किया, उसी प्रकार तुम भी एक दूसरे को प्यार करो' (वही, योहन 13.34, पृ0 169)। 'ईश्वर सब का पिता है' ऐसी आस्था से 'सभी मनुष्य अपने भाई और बहन हैं' ऐसा अहसास उभर आता है। ऐसे प्यार–भाव में, खून के बाहर भी भाई–बहन–सा और दोस्ताना भाव पैदा होता है। अपनेपन के ऐसे माहौल में एक दूसरे से जुड़ना आसान होता है। ऐसे प्यार और रिश्ते के भाव में कर्तव्य–भावना एक स्वाभाविक और सुखद बन्धन बन जाती है। जब हर कोई अपने–अपने प्यार के फ़र्ज का पालन बखूबी निभाता है, तब दूसरे को अपना हक भी यों ही हासिल होता है। ऐसे हालात में हर इन्सान को अधिकार एक नैसर्गिक प्रक्रिया के भीतर ही अपने–आप हासिल होता है।

सामाजिक व्यवहार का एक स्वर्णिम नियम है, जो ईसा द्वारा लागू किया गया है – 'दूसरों से अपने प्रति जैसा व्यवहार चाहते हो, तुम भी उनके प्रति वैसा ही किया करो' (वही, मत्ती 7.12, पृ0 10)। आपसी लेन–देन की यही बुनियादी नीति है। दूसरों के प्रति ज़िम्मेदारियाँ निभाने के बाद ही उनसे उम्मीदें रखना जायज़ है। ऐसा व्यवहार ही न्याय के मुताबिक है। यही नीतिशास्त्र का सार्वभौम आधार भी है। इस स्वर्णिम नियम में हक और फ़र्ज के दरमियान तालमेल और सन्तुलन भरपूर कायम है। साथ ही, फ़र्ज को निभाने की प्राथमिकता पर ज़ोर लगाने से हक को हासिल करना सब के लिए निश्चित होता है। अधिकार और कर्तव्य एक सिक्के के दो पहलू के समान हैं। कर्तव्य का मूल्य चुकाने पर अधिकार की पहचान हासिल होती है। अलग–अलग व्यक्तियों और समुदायों के सम्मिलित जीवन की सफलता के लिए यह नियम बाकायदा स्वर्णिम है।

अधिकार और कर्तव्य के तालमेल की सर्वोत्तम मिसाल 'शरीर' है, पौलुस ने ऐसा तर्क प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि शरीर के बहुत–से अंग होते हैं, लेकिन शरीर

एक है। (I कुरिंथी पत्र 12.12–13, पृ0 265'6)। अंग शरीर नहीं है, बल्कि सिर्फ अंग है। अनेक अंग एक ही अंग की बहुतायत नहीं है, वरन् अलग–अलग अंग हैं। अंगों के भिन्न–भिन्न रूप हैं, आकार हैं, स्वभाव हैं, जगह हैं और भूमिकाएँ हैं। उनमें मौजूद फ़र्क ही उसकी अपनी–अपनी खासियत है। सभी अंग मिलकर शरीर बनते हैं। शरीर का कोई एक अंग दूसरे से कह नहीं सकता कि मुझे तुम्हारी ज़रूरत नहीं। शरीर के किसी एक अंग की जीत या खुशी सभी अंगों की जीत या खुशी है। ठीक उसी प्रकार शरीर का किसी एक अंग में होने वाला दर्द सभी अंगों में महसूस होता है। शरीर का कोई भी अंग बड़ा या छोटा नहीं है। सभी अंग बराबर आदर के पात्र हैं। शरीर का कोई भी अंग कमज़ोर नहीं है। यदि कोई अंग अपने आपको दूसरे से ज्यादा ताकतवर समझता है, तो उसका फ़र्ज़ है, जो कमज़ोर समझा जाता है उसके लिए सहारा बनना। अंगों का एक दूसरे को सेवा करनी चाहिए। अंगों की विविधता से शरीर की गतिविधियाँ सुचारू रूप से चलती है। शरीर की एकता से अंगों की प्रासंगिकता भी बनी रहती है। शरीर के हर अंग का अपना–अपना कर्तव्य और अपना–अपना अधिकार हैं। जैसे शरीर के विविध अंग एक सिक्के के दो पहलू के समान आपस में पूरक हैं, ठीक वैसे ही अधिकार और कर्तव्य भी एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। किसी एक के अधिकार की चर्चा दूसरे के कर्तव्य के संदर्भ में ही सार्थक है।

दूसरे की ज़िम्मेदारी लेना दूसरे के अधिकार को सुरक्षित करने के लिए ज़रूरी है। इस सिलसिले में बाइबिल का एक किस्सा है। आदम और सारा के दो पुत्र थे – क़ाईन और हाबिल। काईन खेती करता था और हाबिल भेड़–बकरियों को चराता था। खुदा हाबिल से ज़्यादा प्रसन्न थे। इस पर काईन नाराज़ थे। एक दिन काईन ने हाबिल पर वार किया और उसे मार डाला। खुदा ने काईन से पूछा – 'तुम्हारा भाई हाबिल कहाँ है'? काईन ने सवाल का जवाब देने के बजाय खुदा से उल्टा सवाल किया – 'क्या मैं अपने भाई का रखवाला हूँ' (वही, पुराना विधान, उत्पत्ति 4.1–10, पृ0 7–8)? यह सवाल मानवीय ज़िन्दगी में बुनियादी तौर पर महत्व रखता है। नये विधान में एक दूसरा किस्सा इस सवाल का जवाब पेश करता है। ईसा अपने शिष्य और माता मरियम के साथ काना नगर के एक विवाह–समारोह में शरीक थे। समारोह में अंगूरी परोसने की प्रथा थी। यकायक अंगूरी खत्म हो गयी और मेज़बान परेशान हो गये। माता मरियम ने मेजबान से चर्चा किए बगैर ही अपने बेटे ईसा से कुछ करने का आग्रह किया। ईसा ने अपनी अलौकिक ताकत से पानी को अंगूरी में बदल दिया। माता मरियम ने इस प्रकार उस मेज़बान की लाज रखी। बगैर पूछे ही, सोच–समझकर और दूसरे को अपना भाई समझकर उसकी ज़रूरत की पूर्ति करते हुए माता मरियम ने यह साबित किया कि वह अपने भाई की रखवाली है (वही, योहन, 2.1–11, पृ0 146)। ये दोनों किस्से प्रतीक के तौर पर सवाल और जवाब के रूप में आपस में मुखातिब हैं। पुराने विधान के सवाल का जवाब नये विधान ने करके दिखाया कि दूसरे की ज़िम्मेदारी लेना और उसकी मौके पर मदद करना अपना फ़र्ज़ है। दूसरे के अधिकारों को सुरक्षित करने के

लिए हद से कहीं आगे बढ़कर भी अपने कर्तव्यों का पालन करना असल में इन्सानियत और धर्मपरायणता की सम्मिलित पहचान है, यही ईसाई मान्यता है।

सामाजिक जीवन के कुछ खास आयाम मानव अधिकार की ईसाई अवधारणा में विशेष ध्यान देने योग्य है। समाज के भिन्न–भिन्न वर्गों के बीच जहाँ अधिकार और अधिकार का अनुपात बिगड़ गया है, वहाँ ईसाई नज़रिया खास है। धर्म के क्षेत्र में अधिकारों का उल्लंघन सबसे अधिक था। यह तय करना कि 'कौन भला, कौन बुरा' बहुत मुश्किल है। यदि यह बात कुछ निश्चित भी होती है तो खुदा उनमें फ़र्क नहीं करता है। लेकिन इन्सान व्यक्ति और व्यक्ति के बीच तथा समुदाय और समुदाय के बीच फ़र्क करके अपने आपको ज़्यादा महत्त्वपूर्ण साबित करने की होड़ में रहता है। यहूदी समाज के धर्म–नेता अपने आपको पुण्यात्मा कहलाने के लिए दूसरों को नीचा दिखाते थे। यह सोच खुदा के अलौकिक ज्ञान के साथ गुस्ताखी तो थी ही। यह दूसरों के भीतरी हकीकत का अतिक्रमण भी रही। इसलिए ईसा ने उन पाखण्डियों की पोल खोली और उन पर जमकर बरसे। और तो और, उन्होंने उन तथाकथित पापियों को दिल का साफ होने और खुदा के नज़दीक होने का करार दिया। नाकेदार–जैसे समाज के निम्न वर्ग के लोगों तथा पापियों के साथ उठना–बैठना, खाना–पीना और दोस्ती करना आदि व्यवहार से ईसा ने उन कमज़ोरों के अधिकारों की रक्षा की (वही, लूकस, 19.1–10, पृ0 129)। सौ भेड़ों में निन्यान्वे को छोड़कर एक खोये हुए की तलाश में निकलनेवाले भले गड़रिये का जीवन्त रूप बनकर ईसा ने जीने के हक़ से वंचित कमज़ोरों की तरफ़ खड़े हुए (वही, लूकस, 15.1–7, पृ0 121–22)। साथ ही, ईसा ने गरीब, दीन–हीन, नम्र, दुखी, गुनाहगार आदि के अलौकिक बड़प्पन को उजागर करके उन्हें इज्ज़त दिलायी (वही, मत्ती, 5.1–10, पृ0 5–6)। उन्होंने कमज़ोरों, ताकतहीनों, आवाज़हीनों और हाशिये पर सरकाये हुओं को मजबूत करने और उन्हें अपने पैरों पर खड़ा करने का अनूठा बीड़ा उठाया।

महिलाओं, बच्चों और अन्य शोषितों के साथ भेदपूर्ण व्यवहार के खिलाफ ईसा डटकर खड़े हुए और उन्हें न्याय दिलाया। व्यभिचारिणी स्त्री को पत्थर से मार डालने जा रहे ढोंगी पुरुषों को व्यभिचार के साथी होने की असलियत को उजाले में लाकर (वही, योहन 8.1–11, पृ0 157–58) उन्होंने पुरुषों की अन्यायपूर्ण हरकतों से निजात दिलायी। पश्चाताप करने वाली पापिनी स्त्री को खुदा की स्वीकृति के योग्य बताकर (वही, लूकस, 7.36–50, पृ0 103) ईसा ने पुरुषों की हुकूमत की मज़बूरी भोग रही स्त्रियों को पुरुषों के बराबर का दर्जा दिलाया। बच्चों को छोटा समझकर अपने आपको बड़ा माननेवाले वयस्कों को बच्चों में असली बड़प्पन का अहसास करा कर ईसा ने बच्चों को अपने अधिकार से युक्त किया (वही, मत्ती, 18.1–17, पृ0 30)। ज्ञानी, शक्तिशाली, कुलीन और गणमान्य लोगों के घमण्ड और विशिष्ट अधिकार–भावना को चुनौती देते हुए दुनिया की दृष्टि में मूर्ख, दुर्बल, तुच्छ और नगण्य लोगों को खुदा के

विशेष प्यारे घोषित कर पौलुस ने अधिकारों में सन्तुलन स्थापित करने की ईसा की पहल को फैलाव भी दिया (वही, I कुरिंथी, 1.26–31, पृ0 253)।

गरीब, गुनाहगार, विकलांग, रोगी, सेवा करने वाले, आदि के अधिकारों को भी ईसा ने बुलन्द किया। लाज़रुस जैसे गरीब की बुनियादी हक़ की ओर बेरहम रहे अमीर को दण्ड के लायक बतलाकर ईसा ने धन–सम्पत्ति के असन्तुलित व्यवस्था में मौजूद हकतलफी की निन्दा की (वही, लूकस, 16.19–31, पृ0 124)। मन्दिर के खज़ाने में बहुत अधिक सिक्के डालने वाले अमीरों की तुलना में महज एक पैसा डालनेवाली बहुत ही गरीब विधवा को सबसे अधिक डालने वाली बताकर ईसा ने खुदा के सामने बड़प्पन की असली कसौटी को उजागर किया ही नहीं, बड़े–छोटे की गलतफहमी पर जमकर तमाचा भी मारा (वही, मारकुस 12.41–44, पृ0 77)। 'गुनाहगार भी क्षमा की अधिकारी है' – इस बात को साबित करने के लिए ईसा ने अपने शिष्यों को सत्तर गुना सात बार माफ करने की नसीहत दी (वही, मत्ती, 18.22 पृ0 31)। साथ ही, सलीब पर चढ़ाकर अपने साथ हीनतम व्यवहार करनेवालों के लिए 'पिता! इन्हें क्षमा कर, क्योंकि ये नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं', ऐसी प्रार्थना कर ईसा क्षमा की सबसे अनोखी मिसाल खुद बने। इस प्रकार, गुनाहगारों को पश्चाताप करके एक नयी ज़िन्दगी जीने के अधिकार से युक्त किया (वही, लूकस, 23.34 पृ0 139)। भोज देते समय अपने मित्रों, कुटुम्बियों और अन्य धनी पड़ोसियों की जगह कंगालों, लूलों, लंगड़ों और अंधों को बुलाने की तालीम देकर ईसा ने समाज के आधे–अधूरों को भी इज्ज़त के लायक घोषित किया (वही, लूकस, 14.12–14, पृ0 120)। विभिन्न कारणों से बीमार हुए लोगों को चंगा कर और उन्हें नया जीवन प्रदान कर ईसा ने उनके भी जीने के अधिकार पर रोशनी फेरी (वही, मारकुस, 5.1–43, पृ0 61–63)। पेशे से या स्वेच्छा से दूसरों की सेवा करने वालों को निचले स्तर के समझने की गलतफहमी को दूर करने के लिए ईसा ने कहा – 'जो तुम में बड़ा है वह सबसे छोटे–जैसा बने और जो अधिकारी है, वह सेवक – जैसा बने। मैं तुम लोगों में सेवक – जैसा हूँ' (वही, लूकस, 22.24–27, पृ0 135)। इस प्रकार, किसी–न–किसी प्रकार से शोषण के शिकार हुए और अपने अधिकारों से वंचित हुए लोगों के प्रति तरजीही प्यार दिखाकर उन्हें दूसरों से भी महत्वपूर्ण सिद्ध करते हुए ईसा ने निचोड़ के रूप में कहा – 'कारीगरों ने जिस पत्थर को बेकार समझकर निकाल दिया था, वही कोने का पत्थर बन गया है' (वही, मारकुस, 12.10, पृ0 76)। मानवमात्र के अधिकार की पुनर्स्थापना के लिए ईसा द्वारा चलाया गया यह अभियान बहुआयामी ही नहीं, समग्र भी है।

मानव अधिकार की ईसाई अवधारणा ईसा की जीवन–दृष्टि, जीवन और शिक्षा का निचोड़ है। खास तौर पर इन्सान ईश्वर का सदृश बना है। ईश्वर उसमें सदा वास भी करता है। इसलिए हर इन्सान प्रतिष्ठा और सम्मान के लायक है। हर इन्सान अपने अन्तःकरण, विचार, अभिव्यक्ति और आचरण के स्तर पर आजाद है। सुचारू रूप से

अपनी ज़िन्दगी जीने का अधिकार हर किसी का है। सार्वभौम नीतिशास्त्र के साथ–साथ भारतीय संविधान के मुताबिक भी, इन्सान के बुनियादी अधिकार का हनन हरगिज न्याय–संगत नहीं है। लेकिन, जन्म, वंश, भाषा, शिक्षा पेशा, धर्म, वर्ग, विचारधारा, रीति–रिवाज, संस्कृति, देश आदि के आधार पर एक इन्सान दूसरे इन्सान से श्रेष्ठ होने का ढ़ोंग रचता है और दूसरे को हीनता की ओर धकेलने की कोशिश करता रहता है। ईसा ने अपने समाज की कुरीतियों पर जमकर प्रहार किया। बात–बात पर विशिष्ट अधिकार का दावा करने वाले तथाकथित ताकतवरों, समझदारों और बड़ों को किनारे की ओर धकेल दिया और समाज के हाशिये पर जीने को मज़बूर तथाकथित छोटों, बेवकूफों और कमज़ोरों को मुख्यधारा में होने का अधिकार दिया। गरीब, गुनाहगार, बच्चे, महिलाएँ, विकलांग, बीमार, सेवक और अन्य अभागों को भी खुदा की सन्तान के रूप में हकदार साबित कर ईसा ने उन्ह इन्सान क लायक इज्ज़त दिलाया। अन्तःकरण पर अंकित प्रेम–भाव–रूपी इन्सानी नियम को ज़िन्दगी के केंद्र में स्थापित कर ईसा ने मानव समाज के सभी समुदायों और शाखाओं में अधिकारों का बँटवारा किया। उन्होंने अधिकार और कर्तव्य को सिर्फ नज़रिये का फ़र्क सिद्ध कर उन्हें एक दूसरे का पूरक भी बताया।

मानव अधिकार की रक्षा के लिए ईसा का अनूठा नारा था -- कोई किसी का शोषण नहीं करे और कोई किसी के अधिकार का अतिक्रमण नहीं करे। हर कोई प्रेम–भाव से, मित्र–भाव से और भातृ–भाव से दूसरे की सेवा करे। 'जीओ और जीने दो' से बढ़कर 'जीने की मदद करो' के विशिष्ट भाव से प्रेरित होकर समाज के कमज़ोरों और आवाज़हीनों की तरजीही वकालत चलती रहे और मानव अधिकार का मार्ग प्रशस्त होता रहे। ऐसे संकल्प को लेकर समूची धर्म–परंपराएँ मैत्री–भाव से एक जुट होकर प्रतिबद्ध हो जायें। इस प्रकार, मानव समाज ऐसा 'वसुधैवकुटुम्बकम्' बन जाये कि हमारा समाज ज़्यादा जीने लायक रहे और हर इन्सान को जीने का भरपूर सुख मिले। इन्सानियत में ऐसा अलौकिक निखार आये, यही वक्त का तकाजा है, मंगलकामनाएँ भी।

सिक्ख धर्म और मानव अधिकार

• प्रो० ए. एस. नारंग

भारतीय संस्कृति में सभी धर्म, सभी मजहब भाईचारा, परस्पर सद्भाव की बात करते हैं। भारत में सिक्ख धर्म का उदय मनुष्य की सामाजिक संकल्पनाओं की रक्षा करने के साथ हुआ। सिक्ख धर्म में गुरुओं की एक लंबी परम्परा रही है और उन्हीं को सिक्ख धर्म के उपासक सृष्टि का सृजनहार मानते हैं। सिक्ख मान्यताओं के अनुसार किसी सद्गुणों के आधार पर हर एक इंसान को ऐसा हर काम करने का अधिकार है जो उसके नजरिए में सही है और जो उसके जीवन को प्रभावित करती है। सिक्ख धर्म में छूआछूत के लिए कोई जगह नहीं है बल्कि इस सामाजिक अपराध के प्रति गुरुओं की वाणी में घोर विरोध भी दिखाया गया है।

सिक्ख धर्म और मानव अधिकार का अटूट एवं गहरा संबंध है क्योंकि दोनों की दृष्टि और सोच एक जैसी है जिस प्रकार सिक्ख धर्म में सर्वत्र व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की बात की गई है। उसी प्रकार मानव अधिकार भी व्यक्ति को गरिमा, भाईचारा तथा इंसानियत के पाठ पढ़ाने का दर्शन प्रदान करता है। प्रस्तुत लेख मानव अधिकार और सिक्ख धर्म के परस्पर संबंधों का एक ऐसा लेखा जोखा प्रस्तुत करता है जो न केवल इंसान की मानवीय संवेदनाओं को प्रभावित करती है बल्कि उसमें निहित अच्छाई और बुराइयों के बीच नीर–क्षीर विवेकनी प्रतिभा की शक्ति भी प्रदान करती है। सिक्ख धर्म में जो अन्तरनिहित भाव हैं वे भी मानव अधिकारों के दर्शन से पूर्णतया अनुप्राणित और सर्वव्यापी भी हैं। जिस प्रकार सिक्ख धर्म का मूल न्याय, समता, परस्पर सद्भाव, दया और करुणा पर आधारित है उसी प्रकार व्यक्ति के मानव अधिकार भी इसके इर्द–गिर्द घूमते हुए दिखाई पड़ते हैं या दूसरे शब्दों में हम कहें सिक्ख धर्म मानव धर्म का ऐसा समवेत प्रयास है जो समाज और इंसान के अधिकारों के प्रति गहरे भाव के साथ जुड़ा हुआ है।

मानव अधिकारों की संकल्पना का मूल आधार इतिहास और सभ्यता है, जो निरंतर विकसित होती रहती है और आगे बढ़ती रहती है। मौजूदा संदर्भ में मानव अधिकारों का अर्थ है; न्याय, नैतिक विशुद्धता या नैतिकता के सिद्धांतों या कानून के

• राजनीति विज्ञान विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली

साथ इनका आपसी सामंजस्य। इस दृष्टि से इसकी जड़ें 17 वीं और 18 वीं शताब्दी में अधिकारों की संकल्पना में निहित है। राष्ट्रीय और समय के साथ–साथ यह मुद्दा मुख्य रूप से यूरोपीय देशों से वैश्विक रणभूमि की ओर अग्रसर हो गया। राष्ट्रीय मानदंडों के संदर्भ में, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मानव अधिकारों की सर्वप्रथम संकल्पना अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर की गई। अपने समकालीन दृष्टिकोण में अर्थात् मनुष्य के सहज अहरणीय अधिकार जो किसी भी समुदाय द्वारा प्रदत्त नहीं हैं – के संदर्भ में मानव अधिकारों को, हाल ही में उभरने वाली यूरोपीय एवं अमेरिकी परिघटना के रूप में देखा गया है।

अन्य परिप्रेक्ष्य से देखें तो यह साफ नज़र आता है कि इतिहास के हर चरण में उत्पीड़न के विरोध में आवाज उठी है; हर युग में मानव मुक्ति के चित्रण को निस्तेज भी किया गया है। अतः मानव अधिकारों का इतिहास ऐसे संघर्षरत लोगों का इतिहास है जो जुल्म के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाते रहे हैं और जिन्होंने अपने ऊपर हावी होने वाली शक्ति का दमन करने का हर संभव प्रयास किया है। इस तरह के सक्रिय प्रतिरोध की संभावना सदैव कायम रही है और यहां तक कि प्राचीन समय में जिसका किसी दस्तावेज, ऐतिहासिक स्थल या मौखिक परंपरा में कोई जिक्र नहीं है अर्थात ऐसे समय में भी ऐसे निर्भीक लोग रहे हैं जो जुल्म के खिलाफ खड़े हुए और जिन्होंने ऐसे जुल्म और उत्पीड़न का सामना करने के लिए अपने जीवन को जोखिम में डाला और अपने प्राणों की आहूति भी दी (टोट्जलाफ 193:11)। अंतर सिर्फ इतना है कि मानव अधिकारों की आधुनिक संकल्पना बुनियादी रूप से व्यक्तिपरक है और इसकी जड़ें इस धारणा में हैं कि सभी मनुष्य पूर्ण और समान हैं। इस धारणा के तहत सभी को जीवन के हर पहलू में खुल कर जीवन जीने, स्वतंत्रता, समानता और सम्मान प्राप्त करने के मूलभूत अधिकार प्राप्त हैं। निर्णय लेने, अवसरों की समानता और मनुष्यों के आत्मसम्मान संबंधी अधिकारों को "प्राकृतिक अधिकारों" के रूप में इस संकल्पनात्मक ढंग से देखा जा सकता है कि अधिकार हर मनुष्य को मात्र इसलिए मिलते हैं क्योंकि इनका संबंध मानव जाति से है।

इस दृष्टि से इतिहासकार संविधानों और विधिवत् घोषणाओं या दार्शनिक रचनाओं के साथ शुरू होने वाले उनके विश्लेषण के आधार पर मानव अधिकारों के अस्तित्व में आने की दो तिथियाँ बताते हैं। दार्शनिक क्षेत्र में अन्वेषण का अधिकांश भाग प्राचीन यूनानी दर्शनशास्त्र (द स्टोसिस) से जुड़ा हुआ है। सांविधानिक घोषणाओं के क्षेत्र में, 18 वीं शताब्दी के अंत में अमेरिकी स्वतंत्रता घोषणा (4 जुलाई 1776) और फ्रांसीसी मानव और नागरिक अधिकार घोषणा (26 अगस्त 1789) के साथ ही इस संदर्भ में ठोस बुनियाद प्रतीत होने लगी। पहला संविधान दस्तावेज जिसमें लोकतंत्र और सत्ता विभाजन के साथ मानव अधिकारों के विचार को जोड़ा गया था, वह 12 जून 1776 का विरजिनिया बिल ऑफ राइट्स है।

ये तिथियाँ, निस्संदेह, मानव अधिकारों को यहूदी–ईसाई, पूर्व–ज्ञानोदय पश्चिम की विशिष्ट संकल्पना के रूप में मानती हैं। हालांकि, मानव अधिकारों की सांस्कृतिक या ऐतिहासिक जड़ों के बारे में अन्य मत भी रहे हैं। मानव अधिकारों की मूल उत्पत्ति और संभावित सार्वभौमिक प्रकृति पर यूनेस्को के 1947 के सर्वेक्षण के भाग के रूप में चीनी दर्शनशास्त्री चुंग–शो लो का मत था कि मानव अधिकारों के विचार की रूपरेखा मध्य शासनों में बहुत पहले से ही विकसित हो रही थी और जुल्म करने वाले शासन के विरुद्ध खड़े होने के आम लोगों के अधिकार को सदैव पहचान मिली है। उसने उस दिव्य आदेशपत्र की ओर इशारा किया जिसमें शासक को विद्रोह द्वारा अपने शासन से वंचित होने से बचने के लिए अपने सामर्थ्य को अवश्य सिद्ध करना होगा।

इस अवसर पर भारत के इस्लामी विद्वान हुमायूं कबीर ने घोषित किया कि अनुमानतः मानव अधिकारों की पश्चिमी विचारधारा, लोकतांत्रिक सिद्धांत और व्यवहार के मुख्य भाग से उभरी है जिसे इस्लाम निष्काल से संस्पर्श हुआ था और जो जातीय अंतरों को दूर करने में किसी भी व्यवहार को लागू करने से पहले या तभी से जो जातीय अंतरों को दूर करने में अपेक्षाकृत अधिक सफल सिद्ध हो सकता था (टेट्ज़लाफ 1993:19)।

I

इस संदर्भ में हमारा उद्देश्य ऐसे किसी तर्क/वितर्क में पड़ना नहीं है जिससे मानव अधिकारों की धारणा को किसी सांस्कृतिक क्षेत्र से जोड़ कर देखा जाये या जिससे इसकी मूल उत्पत्ति पर कोई सवालिया निशान लग जाए। यहाँ इस ओर ध्यान देने की जरूरत है कि आज जिस तरह मानव अधिकार शब्द का उल्लेख किया जा रहा है, ऐसा उल्लेख किए बिना भी ऐसे मूल्यों और प्रतिरोधों की धारणाएं रही हैं। यहाँ जिस बात को समझने का महत्व है वह है मानव अधिकारों का सिद्धांत विद्रोह और संघर्ष का सिद्धांत है। इसका उद्देश्य विश्व को वैसे ही नहीं रहने देना है जैसे वह है बल्कि इसे एक बेहतर और अधिक न्यायपूर्ण जगत में तबदील करना है। इस नज़रिए से बहुत से धार्मिक ग्रंथ, नैतिक और मानवतावादी सिद्धांतों के माध्यम से मानव अधिकारों के विचारों को सम्मिलित करते हैं जिन्हें अक्सर कर्तव्यों का नाम दिया जाता है। भारत में सिक्ख धर्म का उदय भी एक अनूठे रूप में मानव अधिकारों के सिद्धांतीकरण और व्यवहार के मिले जुले रूप को प्रदान करता है। जहाँ यह मानव अधिकारों के आधुनिक आदर्श के काफी निकट है वहीं अपने दार्शनिक न्याय प्रतिपादन और नज़रियों की दृष्टि से यह काफी आगे भी बढ़ जाता है।

II

सिक्ख धर्म का उदय, भारतीय धार्मिक चेतना के क्रम विकास में एक निर्णायक मोड़ है। गुरु नानक, सिक्ख धर्म के संस्थापक, भक्ति संप्रदाय से संबंधित शक्तियों और

धार्मिक धाराओं के मध्य में, प्रकट हुए। जहाँ वे इनसे स्वाभाविक रूप से प्रभावित थे वहीं कुछ निश्चित पहलुओं में उनकी विचारधारा मध्यकालीन भारत के निरगुण भक्ति संप्रदाय से गूढ़ रूप से बंधी हुई थी। उन्होंने बहुत सी यात्राएं कीं और ऐसे विशिष्ट एवं सुपरिभाषित धार्मिक मूल्यों को सूत्रबद्ध किया जिनका विस्तार उनके अपने समय से अब तक कायम है। गुरु नानक के लिए धर्म का अर्थ, ईश्वर की पवित्र आराधना या मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्यों के प्रयासों से कहीं अधिक था। उनकी धर्म की संकल्पना मनुष्य को इस जीवन में और इस जगत में पूर्ण और खुशहाल जीवन और इसके पश्चात् मोक्ष प्राप्ति को सुनिश्चित करती है। इस संदर्भ में राज्य और सामाजिक उत्पीड़न के कारण समाज में व्याप्त दुख–तकलीफ को देखते हुए उन्होंने नैतिकता और आपसी सम्मान के कोड पर टिके समाज की वैकल्पिक संकल्पना को विकसित किया जिसने विश्व भाईचारे के विचार के लिए एक ठोस आधारशिला प्रदान की। यही मानव अधिकारों के आधुनिक सिद्धांत के प्रमुख मतों में से भी एक है। यह मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुच्छेद–I में निर्धारित बातों के दर्शनशास्त्र पर आधारित है कि सभी मनुष्य जन्म से स्वतंत्र हैं और सभी को समान अधिकार और सम्मान तथा तर्क और अपनी चेतना की शक्ति प्राप्त है और उन्हें भाईचारे की भावना से एक दूसरे से व्यवहार करना चाहिए। इसलिए यह अनुच्छेद मानव आयोग की बुनियादी अवधारणा को इस तरह परिभाषित करता है कि :

(1) स्वतंत्रता और समानता का अधिकार मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है और इसलिए इन्हें छीना नहीं जा सकता।

(2) चूंकि मनुष्य विवेकशीलता और नैतिक मूल्यों से जुड़ा हुआ है इसलिए यह अन्य प्राणियों से अलग है और इसलिए इसे कुछ ऐसे विशेष अधिकार और स्वतंत्रता प्राप्त करने का हक है जो अन्य प्राणी प्राप्त नहीं कर सकता।

मनुष्य को समानता की प्राप्ति और मनुष्य का अन्य प्राणियों से अलग और उत्कृष्ट होने का विचार, सिक्ख गुरुओं द्वारा ज़ोर दिए जाने वाले मुख्य मूल्यों में से एक है। गुरु, मनुष्य को सृजनहार की सृजना के रूप में देखते हैं, उसकी देह की संरचना अनूठी है जो कि जीवंत ईश्वर का मंदिर है। इस पूज्य मंदिर में सृजनहार की अनुभूति की जा सकती है और उसे पूजा जाता है। इसके अलावा गुरुओं ने इस बात पर ज़ोर दिया कि चेतना ही है जो मनुष्यों को पशु जगत से अलग करती है और अन्य प्रजातियों पर मनुष्यों की श्रेष्ठता को स्थापित करती है। प्रकृति ने केवल मनुष्य को उत्कृष्ट दिमाग ही नहीं दिया है बल्कि साथ ही मनुष्य को अंदरुनी उद्दीपन शक्ति (जिज्ञासा) भी प्रदान की है जिससे मनुष्य सदैव नई बातों को समझने का प्रयास करता है। गुरुओं द्वारा प्रस्तुत यह मानव संकल्पना मानव अधिकारों के लिए औचित्य स्थापित करने के लिए तो नहीं दी गई थी परन्तु यह उस स्थिति की ओर इशारा अवश्य था जिसमें एक अलग सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्थिति की प्राप्ति होती है और

जिससे कुछ विशेष अधिकारों एवं कर्तव्यों को भी स्वीकारा जाता है। इससे जो अवधारणा सबसे पहले उभरती है वह है कि इस जगत में मनुष्य और स्वयं यह जगत एक सच्चाई है न कि कोई मिथक धारणा या माया जो सारी बुनियादी चीजों को अपने में समा लेती है। यह दुनिया एक सच्चाई है, लेकिन यह निरंतर परिवर्तनशील है। नष्ट होना और मृत्य होना इसमें स्वाभाविक है। इस नज़रिए से अवश्य ही यह खेल तमाशा है (जोध सिंह, 1990:7)। सिक्ख धर्म इसलिए इसे भागने या पीछा छुड़ाने की अनुमति नहीं देता। मनुष्य को आत्मसिद्धि में अनिवार्य एवं अत्यावश्यक कारक के रूप में इसे स्वीकार करना ही होगा। घर का त्याग कर देना, जंगलों आदि में भटकना, भिक्षा माँग कर जीवित रहना, शरीर पर राख मल लेना या रोज़ाना के स्नान और देही स्वच्छता जैसी बातों को अपनाए बिना ही जीवित रहना अर्थात ऐसी सभी बातें जिन्हें भारत में पवित्र कर्मकांडों के रूप में देखा जाता है, गुरुओं की शिक्षाओं में इनकी भर्त्सना की गई है। ईश्वर को ढूंढने वाले को इस दुनिया के आचार–व्यवहार और कतव्या क बीच रह कर अपना फर्ज़ निभाने का उपदेश दिया है अर्थात उसे इस मानव समाज के बीच रहकर ईश्वर की आराधना एक श्रेष्ठ और उपयोगी जीवन जी कर करनी है। गुरु नानक जब हिमालय में सिद्धयोगियों से मिले तो उन्होंने इन योगियों को आम लोगों के दुःख और तकलीफ से दूर होने के लिए अर्थात् पाप और तकलीफों से जूझ रहे आम लोगों की दुनिया का परित्याग करने के लिए उनकी भर्त्सना की। गुरु जी ने उनसे कहा कि यदि आप जैसे पवित्र लोग पर्वतों में छुप कर बैठ जायेंगे तो मानवता का उद्धार कौन करेगा (तालिब 1990:29)।

सिक्ख गुरु अज्ञानता के विरोधी थे और इसलिए एक कल्पित ज्ञान के रूप में पौराणिकी का उन्होंने खंडन किया। वे विज्ञान, स्वतंत्रता और अधिकार के पक्षधर थे। ऐसे विज्ञान के जो सच और झूठ की खोज समान रूप से करे और ऐसी स्वतंत्रता जो नर और नारी दोनों को बेहतर विकल्पों के लिए बराबर के अवसर प्रदान करे और ऐसे अधिकार भी प्रदान करे जो एक अच्छा मानव जीवन प्रदान करे। सिक्ख गुरुओं ने अलग रूप में नहीं बल्कि दो पारस्परिक प्रबल संकल्पनाओं के रूप में मोक्ष और मुक्ति की दो धारणाओं पर ध्यान केंद्रित किया ताकि एक की प्राप्ति के लिए दूसरी को उत्सर्जित करने की ज़रूरत न पड़े।

अतः गुरु नानक के लिए ब्रह्माण्ड व्यवस्था वास्तविक है न कि काल्पनिक या माया नगरी मनुष्य के लिए उसका जीवन महत्वपूर्ण है, और इसका महत्व उसके अन्य सहयोगियों के लिए भी है। इसलिए गुरु नानक की संकल्पना का धर्म औपचारिक संकल्पनाओं, आस्थाओं, पूजा–अर्चना और व्यवहारों पर नहीं टिका हुआ था बल्कि यह दिमागी ताकत और शुद्धता की अवस्था थी। इसका सरोकार, इसी भूमि पर जी रहे जीवन से अधिक है। यह स्वीकार करता है कि यदि यह जीवन प्रभु के प्रेम में पूरी तरह रम कर जीया गया है तो इस जीवन की आगे भी देखभाल होगी (तरन सिंह 1990:20)।

यह मनुष्य का वह आचरण या व्यवहार है जो मनुष्य के समग्र जीवन को लोक/परलोक दोनों जगहों पर इसके भौतिक, नैतिक, संवेदात्मक, बौद्धिक, आध्यात्मिक और रहस्यवादी पहलुओं अर्थात् इसके सभी पहलुओं में उसे सहयोग देता है और उसे बनाए रखता है। गुरु नानक ने इसलिए अपने अनुयायियों के लिए दैनिक जीवन के लिए आचरण के विस्तृत नियम निर्धारित किए और यहाँ तक कि उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संबंधों को भी सामान्य रूप से परिभाषित किया। वे ऐसे विषयों पर खुल कर बोले जिन्हें आज पूरी तरह राजनीतिक माना जाता है। गुरु नानक के अलौकिक दृष्टिकोण की तरह उनका सामाजिक दृष्टिकोण इतना व्यापक था कि इसमें समाज की पूर्ण समग्रता सिमटी हुई थी। उनकी वाणी; सामाजिक भेदभाव, अन्याय से जूझने, लोगों की कायरता और उस समय की ऐसी बहुत सी बुराइयाँ आदि जिन्हें आज मानव अधिकार के सिद्धांत और व्यवहार का आधार माना जाता है इन मुद्दों पर उनकी चिंता का स्पष्ट प्रमाण है।

III

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, आज के समय का व्यक्ति आधारित मानव अधिकार का विचार इस आधार में निहित है कि सभी मनुष्य पूर्णतः समान व्यक्ति हैं। जहाँ तक मानव अधिकारों को प्रकृति द्वारा प्रदान किए अधिकार माना जाता है इन्हें अर्जित करने की आवश्यकता नहीं है। इन्हें कोई भी या सभी मनुष्य अपनी विशिष्ट योग्यताओं, कौशल, संसाधनों या अन्य निजी गुणों में पाए जाने वाले अंतरों और समूह स्थिति या वर्ग सदस्यता में मौजूद अंतरों पर बिना ध्यान दिए, समान रूप से इनकी प्राप्ति का दावा कर सकता/सकते हैं। निजी मानव अधिकारों को अहरणीय कहा जा सकता है लेकिन व्यावहारिक रूप से ये पूर्ण नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के निजी मानव अधिकारों के प्रयोग के लिए यह ज़रूरी है कि दूसरे के अधिकारों की कहीं कोई उपेक्षा न हो। इसलिए मानव अधिकार सामाजिक उत्तरदायित्व की माँग करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को दूसरे के मानव अधिकारों का सम्मान भी अवश्य करना चाहिए। इस संदर्भ में मानव अधिकार का अर्थ भय और भूख से मुक्ति भी माना जाता है। इनका अस्तित्व समाज में मनुष्यों के लिए है। इसलिए इसमें ऐसे अधिकार शामिल हैं जो मनुष्य की सुरक्षा और बुनियादी उत्तरजीविता संबंधी भाव से संबंधित हैं। आज के समय की शब्दावली में अधिकारों के दो समूहों को सिविल और राजनीतिक अधिकार और आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के रूप में परिभाषित किया गया है। सभी मानव अधिकार सार्वभौमिक, अविभाजित और अंतःनिर्भर और अंतः संबद्ध हैं। राज्य, मानव अधिकारों का गारंटीकर्ता और संरक्षक हैं।

मनुष्य, नैतिक पद्धति, समाज और मोक्ष की सिक्ख संकल्पना, मानव अधिकारों की उपर्युक्त उल्लिखित प्रकृति के लिए एक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक आधार प्रदान करती हो। यहाँ मूल अंतर है कि राज्य की तुलना में अनुबंधन और जिम्मेवारियों के साथ–साथ

आध्यात्मिक और नैतिक आयामों को अधिक महत्व दिया गया है। मानव अधिकारों के सर्वाधिक आधुनिक सिद्धांतों में से सभी इस बात पर सहमत हैं कि राज्य सभी बुराइयों की जड़ है। सामान्यतः विचारकों के अनुसार मानव अधिकारों का उल्लंघन राज्य या राज्य की न्यायिक व्यवस्था अथवा इन दोनों के जरिए होता है। इन विद्वानों ने सोच समझ कर या ऐसे ही राजनीतिक समाज और नागरिक समाज के बीच एक सीमा–रेखा को स्वीकार किया है। वे यह तर्क देने की ओर प्रवृत्त हैं कि वर्चस्व के अभिकर्ता के रूप में राजनीतिक समाज, सिविल (नागरिक) समाज स्तर पर निजी अधिकारों का उल्लंघन कर सकता है। सिक्ख गुरुओं ने नागरिक समाज में भी शक्ति संबंध को समान महत्व दिया है। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टिकोण अधिकारों और कर्तव्यों के बीच एक ज़रूरी कड़ी है। इन दोनों को परमात्मा की बंदगी के माध्यम से लागू किया जाता है। यह एक ऐसा अंगीकार करने वाला व्यक्तित्व है जो जीवन के हर पहलू में हर मनुष्य को अपने में शामिल करता है। बहुत से विद्वान आज अधिकारों की विभिन्न श्रेणियों विशेष रूप से व्यक्तियों के अधिकारों और उत्तरदायित्व के संदर्भ पर जोर देने में संतुलन के अभाव की ओर इशारा कर रहे हैं। जैसा कि सिक्ख गुरुओं ने प्रतिबिंबित किया है नैतिक पद्धति तथा मनुष्य की प्रकृति, अधिकारों और कर्तव्यों, व्यक्तियों और समाज और व्यक्तियों के खुद के बीच, स्त्री और पुरुष, निर्धन और धनवान और निर्बल और सबल के बीच संतुलन है।

मोटे तौर पर बात रखें तो आदि ग्रंथ में गुरुओं के नैतिक–आध्यात्मिक दृष्टिकोणों को संक्षेप में तीन प्रमुख शीर्षों के अंतर्गत दोहराया जा सकता है। ये हैं; (1) मानव सुधार की आवश्यकता, (2) मनुष्य के मनुष्य के साथ जुड़ने वाले संबंधों की प्रकृति एक जैसी होनी चाहिए और (3) अलौकिक शक्ति के साथ मनुष्य का एकाकार। ये आदि ग्रंथ की मूलभूत विषय वस्तु है : मनुष्य, मनुष्यों का समाज और मनुष्य का आध्यात्मिक शक्ति के साथ एकाकार होना। ये विविध गुरुओं की वाणी में बारंबार दोहराई गई हैं और मनुष्य के जीवन के विविध पहलुओं को इसी आधार पर महत्व दिया जाता है और उजागर किया जाता है। गुरु बार–बार इन्हीं पर चर्चा करते हैं और मनुष्य को जीवन की समस्याओं को हल करने का तरीका दिखाते हैं (अवतार सिंह :1983:10)।

सिक्ख गुरुओं की संकल्पना में परमात्मा स्वयं इस सृष्टि का सृजनहार है और जो इस पूरी सृष्टि को चलाता है। मनुष्य उसकी सृजना के एक भाग के रूप में आया है। लेकिन मनुष्य में एक ऐसा गुण है जो दूसरी रचनाओं में नहीं है अर्थात् मनुष्य में आत्मचेतन है, उसे अपने उद्देश्य और अंत का भलीभांति पता है। अपने अहंकेंद्रण से वह अच्छे और बुरे कर्मों के बीच फर्क कर सकता है। इसका अर्थ है कि यदि सृजनहार को अपने निजी उद्देश्य को पूरा करना है तो उसने स्वतंत्रता और जिम्मेवारी के निहितार्थों के साथ मनुष्य को थोड़ी सी रचनात्मकता भी दी है (स. सोहन सिंह 1990:96) परमात्मा मनुष्य को आध्यात्मिक और बौद्धिक दक्षता देता है जिससे मनुष्य सोचने/विचार करने के योग्य बनता है और अपने प्रतिवेश का फायदा उठाता है।

मनुष्य को प्राप्त निजी सद्गुणों के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति ऐसा हर काम करने का अधिकारी है जो उसकी नज़र में सही है और जिसके आधार पर अपने परमात्मा के समक्ष निजी आधार पर उसकी जवाबदेही भी होगी। वैयक्तिक उत्तरदायित्व में निजी स्वतंत्रता पहले से ही निहित है क्योंकि मनुष्य को ऐसे कार्यों के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता जिन्हें न करना उसके हाथ में है ही नहीं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का एक बुनियादी अधिकार ऐसे निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में भाग लेना है जो मुक्त और पारस्परिक विचार–विमर्श और परामर्श के माध्यम से उनके जीवन को प्रभावित करती हैं। क्या यह वही बुनियादी दर्शन शास्त्र नहीं है जो नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की आधुनिक संकल्पना का आधार है?

रिवज़ मानवंडों के अनुसार मनुष्य की प्रकृति का अन्य मनुष्यों के साथ सहयोग और सेवा से उत्पन्न होना है। मनुष्यों को भाईचारे की भावना से एक–दूसरे के साथ व्यवहार करना चाहिए। जात–पात, रंग या लिंग पर ध्यान दिए बिना मनुष्यों के आपसी भाईचारे और समानता के अधिकार में पूर्ण आसानी होनी चाहिए जो कि इस बात पर आधारित है कि ईश्वर एक है। यही गुरु नानक और उनके द्वारा निर्मित सिक्ख धर्म की संरचना और उनके बाद के गुरुओं की शिक्षा का आधार है। अतः सिक्ख धर्म स्थिति (हैसियत) और संपदा के सोपान क्रम की अनुमति नहीं देता। यह नृजातीयता, राष्ट्रीयता और वर्ण के सोपानक्रम की अनुमति भी नहीं देता। मूल बात यह है कि सभी एक ही परमात्मा के बनाए हुए बंदे हैं और इसलिए जात–पात, वर्ण या लिंग के भेदभावों पर ध्यान दिए बिना प्रकृति की देन (उपहार) भी सभी को उपलब्ध है। एक ही परमात्मा जो सर्वव्यापी है, की छत्रछाया में सारी मानव जाति को एक समूह के रूप में देखा जाता है जहाँ किसी एक जाति का अपने लिए एकल रूप से कोई अस्तित्व नहीं है।

यदि सभी समान आध्यात्मिक सांतत्य से उभरे हैं तो समाज को एक अवरोध के रूप में न देख कर इसे आध्यात्मिक एकता के रूप में स्वीकारने की जरूरत है। जहाँ ईश्वर ने मनुष्य को सम्मान और गौरव दिया है वहीं इसका निहितार्थ है कि मनुष्य को अपने दूसरे साथियों की प्रतिष्ठा का भी सम्मान करना चाहिए और उनके अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए या उन्हें अपने अधिकारों से वंचित नहीं करना चाहिए। एक–दूसरे के प्रति किसी किस्म का भेदभाव नहीं होना चाहिए। मानव अधिकारों की आधुनिक शब्दावली में मनुष्य जन्म से बराबर सम्मान का हकदार है, चूंकि गुरुओं की संकल्पना का सिक्ख धर्म सार्वभौमिक किस्म का है इसलिए मानव अधिकारों पर इसका नज़रिया भी सार्वभौमिक है। चूंकि सिक्ख धर्म मनुष्यों की, समग्रता पर आधारित हैं जिसका कि मानव अधिकारों की शब्दावली में अर्थ है; मानव अधिकारों की विधि उत्पत्तियों की अविभाज्यता।

गुरु नानक ऐसे समाज की खोज में थे जहां असल मायने में समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे की भावना को स्थापित किया जा सके। उनके अनुसार ईश्वर के सामने

सभी मनुष्य समान हैं और जन्म के आधार पर उनमें भेदभाव करना पाप है भारत में व्याप्त असमानता के सन्दर्भ में गुरु नानक ने जाति और जाति विचारधारा का विशेष रूप से खंडन किया। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि विशेषाधिकारों की ऐसी व्यवस्था में कोई भी आध्यात्मिक और सामाजिक प्रगति सार्थक सिद्ध नहीं हो सकती जो उच्च जातियों के एकाधिकार और निम्न जातियों के शोषण की पुष्टि करे। गुरु नानक ने अनेक बार जाति की नैतिक वैधता का अपनी वाणी में खंडन किया है। उन्होंने ईश्वर के समक्ष मनुष्यों की समानता की बात का समर्थन किया है और जाति की बजाय ऐसे सद्गुणों पर प्रकाश डाला है जिससे मनुष्य की सही स्थिति का पता चलता है। इसलिए सिक्ख धर्म में छुआछूत के लिए कोई जगह नहीं है। गुरुओं के दृष्टिकोण और उनकी साधना ने छुआछूत और अन्य जाति व्यवस्थाओं का कड़ा विरोध किया। छुआछूत और अंधविश्वास से जुड़े सभी विचारों का उन्होंने खंडन किया। इसके अलावा, यह अलौकिक वाणी ही नहीं है बल्कि जाति–उन्मूलन के लिए गुरु नानक द्वारा उठाए व्यावहारिक कदम हैं जिन्होंने एक ठोस वास्तविकता में उनके संदेश को अनूदित करने की सहायता की है। उन्होंने एक ऐसे ठोस समतावादी समाज के लिए संगत और लंगर जैसी प्रथाओं का सृजन करके एक ऐसा ढांचा प्रदान किया जो सिक्ख पंथ के मूल केंद्र का अपने उदय के समय से ही गठन करता है।

मानव अधिकारों के संदर्भ में, गुरु नानक ने सामाजिक भेदभाव के खंडन के साथ–साथ महिलाओं के लिए समान अधिकारों की बात का समर्थन किया। उनकी संकल्पना का समाज ऐसे वर्जित कर्मों और पूर्वाग्रहों से मुक्त था जो लिंग भेदभाव से जन्मे थे। महिलाओं के लिए समान अधिकारों की बात का समर्थन किया। उनकी संकल्पना का समाज ऐसे वर्जित कर्मों और पूर्वाग्रहों से मुक्त था जो लिंग भेदभाव से जन्मे थे। महिलाओं को धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करने, धार्मिक अनुष्ठानों को करने, धार्मिक समागमों में भाग लेने और स्त्री/पुरुषों की मिली–जुली मौजूदगी में गुरुद्वारों में धार्मिक रीतियों की अगुआई करने, और यहाँ तक कि पुजारी की जिम्मेवारियों को निभाने में भी समान अधिकार प्राप्त हैं। सिक्ख धर्म ने उच्चतम आध्यात्मिक प्राप्तियों समेत जीवन के हर पहलू में महिलाओं की पूर्ण सहभागिता को माना है। सिक्ख समाज में महिलाओं को पाप का स्रोत या पुरुष से निम्न दर्जे के रूप में नहीं देखा जा सकता।

गुरु नानक ने उस समय महिलाओं के उद्धार का ठोस समर्थन किया जब उन्हें निम्न दर्जे का माना जाता था और वे अधीनता की बेड़ियों में जकड़ी हुई थी। अपनी वाणी में उन्होंने एक जगह उच्चारित किया है कि नारी ही है जिसकी कोख से हम जन्मे हैं और जिसके साथ हम दोस्ताना रवैया रखते हैं और यह नारी ही है जिससे वंश आगे बढ़ता है तो उसे क्यों बुरा कहा जाये जिससे राजा और अन्य महान व्यक्ति जन्मे हैं। भाई गुरदास जी ने कहा है कि महिला किसी भी किस्म से पुरुष से निम्न नहीं है बल्कि ईश्वर के समक्ष उसकी हैसियत और जिम्मेदारियाँ भी समान हैं। सिक्खों के

तृतीय गुरु श्री अमरदास ने पर्दा प्रथा का कड़ा विरोध किया और सती प्रथा के विरुद्ध ठोस आंदोलन भी चलाया जिसमें अपने मृत पतियों के साथ अग्नि शैया में महिलाओं को जीवित जला दिया जाता था।

आज के समय में मानव अधिकारों का एक अन्य अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू है कि हर मनुष्य को धर्म चुनने और किसी में भी आस्था रखने का अधिकार है। किसी को राज्य समेत किन्हीं निश्चित आस्थाओं को मानने के लिए, किसी को डराने/धमकाने का अधिकार नहीं है। सिक्ख गुरुओं ने इस बात को स्पष्ट रूप से समझाया कि किसी भी मनुष्य के लिए कोई विशेष धर्म मानना अनिवार्य नहीं है। किसी को भी यह हक नहीं है कि वह दूसरे को अपने में आस्था रखने के लिए उससे जोर जबर्दस्ती करे। चेतना की स्वतंत्रता का सिद्धांत सिक्ख आस्था में ठोस रूप से सुस्थापित है। दरअसल गुरु नानक ने विश्व स्तर पर व्याप्त विविध सभ्यताओं और बहुलवाद के लिए सम्मान को जरूरी बताया। सभी सिक्ख गुरुओं ने विविधता और बहुरूपता से मानवता की एकता का प्रचार किया। सिक्ख आदर्शों में सांस्कृतिक विविधता, मानव परिदृश्य और इसके अनुभवों की समृद्धि को सवंर्धित करती है। गुरु नानक ने जो शिक्षा दी है वह दूसरी आस्था के लोगों के साथ स्थापित व्यापक संवादों का पुंज है। उनका नज़रिया ऐसे सभ्य नजरिए पर आधारित विवेकपूर्ण वार्तालाप में शामिल होना था जो झूठी निंदा और झूठे आरोपों से मुक्त हों। मुक्त संवाद की इस परंपरा को सभी गुरुओं ने आगे बढ़ाया है उन्होंने इस बात का ठोस समर्थन किया कि हर समुदाय का मोक्ष प्राप्त करने का अपना एक तरीका और अपनी एक अलग विधि है इसलिए ईश्वर तक पहुँचने और मोक्ष प्राप्त करने के एक नहीं बल्कि अनेक तरीके हैं लेकिन मनुष्य को यह ध्यान रखना जरूरी है कि इनमें से कुछ भ्रामक हैं।

इस आस्था पर प्राकृतिक परिणाम है कि सिक्ख धर्म में दूसरी आस्थाओं के लिए सम्मान और सर्वाधिक मूलभूत मानव अधिकार अर्थात् आस्था और पूजा अन्तरनिहित है। अर्चना के अधिकार के प्रति पूर्ण वचनबद्धता पर जोर देता है। सिक्खों के नौवें गुरु श्री गुरु तेग बहादुर के पास जब कश्मीर के उत्पीड़ित हिन्दू पंडित जबरदस्ती इस्लाम को कबूलने की शर्त को न मानने के लिए मदद की गुहार लगाते हुए गुरु जी के पास आए तो गुरुजी प्राण न्यौछावर करने के लिए तैयार हो गए और बिना हिचकिचाहट के दिल्ली गए। मुगल शासक, औरंगजेब ने धार्मिक सहिष्णुता के लिए उनकी अपील नामंजूर कर दी और गुरु जी को बंदी बना लिया गया। उन्हें कठोर यातनाएं दी गईं और अंततः हिंदुओं के अपने धर्म में कायम रहने के अधिकार को बनाए रखने के लिए सब के सामने उन्होंने अपने प्राणों की आहूति दी। मानव अधिकारों के वर्तमान संदर्भ की प्रतिरक्षा में इस घटना को अैमनेस्टी इंटरनेशनल द्वारा उद्धृत किया गया है।

व्यावहारिक रूप से सिक्ख गुरुओं ने विविधता और बहुरूपता के माध्यम से मानवता की एकता का प्रचार किया। सिक्ख आदर्शों में सांस्कृतिक विविधता मानव परिदृश्य और इसके अनुभवों की समृद्धि को और अधिक कटिबद्ध करती है। सिक्ख धर्म विविधता और बहुलवाद को कबूलता है और इन्हें, इस जीवन के स्वाभाविक भाग के रूप में देखता है। इस विविधता और बहुलवाद का उद्देश्य लोगों को एक–दूसरे के निकट लाना है, ताकि वे एक दूसरे को समझें और आपसी सहयोग दें जिससे वर्ण, जात–पात या लिंग के आधार पर आम लोगों में व्याप्त भेदभाव खत्म हों। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा और संयुक्त राष्ट्र के प्रसंविदा और कन्वेंशन इसी दर्शन पर आधारित हैं और उद्घोषित करते हैं कि एक दूसरे के धर्म का सम्मान करके और सहिष्णुता में लोग एक ऐसे स्थायी जगत का निर्माण कर सकते हैं जहाँ हर सभ्यता और संस्कृति फल फूलेगी और मानवता की सुरक्षा और अपनी भौतिक और आध्यात्मिक खुशहाली को विकसित करने के प्रति समर्पित होगी।

इसी तरह गुरु नानक ने अपने समय में व्याप्त राजनीतिक बुराइयों पर भी समान रूप से ध्यान केंद्रित किया है। उन्होंने सरकारी तंत्र की कार्यप्रणाली पर तीक्ष्णता से गौर किया। उन्होंने ऐसे लोगों की असमर्थता पर गहरी चिंता व्यक्त की जो जुल्म को बेड़ियों में जकड़े हुए थे और अन्याय सहते जा रहे थे। गुरु नानक जी ने उच्चारित किया कि राजा का काम समाज में ऐसी स्थितियों को बनाए रखना है जो उस समाज की कायम मर्यादा के अनुकूल हों। ज्ञान और अनुकंपा के दो सिद्धांतों पर समाज का मार्गदर्शन करने के अलावा, उनकी नजर में राजा के दो अन्य प्रोद्भूत विशिष्ट कार्य भी हैं। राजा का पहला कार्य है; न्याय करना जो उसका धर्म है। आमतौर पर शक्तिशाली वर्ग, दूसरों के अधिकारों के अतिक्रमण की ओर प्रवृत्त होते हैं और जो गरीबों का शोषण करके धनी बने हैं और जो व्यावहारिकता में धार्मिक कार्यों को करके या समाज को लाभ देने वालों के रूप में अच्छे और महान मनुष्य बनने का ढोंग करते हैं। यह ऐसे है जैसे किसी भोजन में नमक–मिर्च डाल कर उसे स्वादिष्ट बनाना जो कि अन्यथा अनुचित भोजन ही था। लेकिन ऐसे नमक मिर्च से भोजन खाने योग्य नहीं बन सकता। यह राजा का कर्तव्य है कि वह निर्धन व्यक्तियों की शक्तिशाली वर्ग के शोषण से रक्षा करे। इसके लिए उसके पास अनिवार्य साधन और अनिवार्य शक्ति का होना अत्यावश्यक है। इसका अर्थ है लोगों से कर वसूलना। यहां राजा और प्रजा के बीच का उचित संबंध है। इसका अर्थ है कि राजा को शक्ति प्राप्त करने में इसका प्रयास करना चाहिए और शक्ति का प्रयोग, जरूरत के समय ही किया जाना चाहिए जैसा कि गुरु नानक का कहना है कि राजा तभी न्याय कर सकता है जब उसमें न्याय करने की शक्ति हो। सिर्फ भगवान के नाम पर उसकी बंदगी कोई नहीं करेगा (स. सोहन सिंह 1990:107)। सिविल और राजनीतिक अधिकारों के आंतरिक प्रसंविदा के अनुच्छेद 2 द्वारा परिभाषित राज्यों का अनुबंध–पत्र अधिकारों को सम्मान देने पर

आधारित है और उन्हें सभी मनुष्यों के लिए बिना किसी भेदभाव के सुनिश्चित करना है। गुरु नानक अपने समय के शासकों से ऐसे ही कार्यों की अपेक्षा रखते थे।

गुरु नानक के नज़रिए में राज्य का अर्थ, लोगों की भलाई करना था, न कि यह लोगों का कर्तव्य था कि वे राज्य की भलाई करें। यदि राजा अपने कर्तव्यों को अनदेखा करता है, यदि वह निर्बल पर क्रोधित होता है, यदि वह ऐसे काम करता है जो लोगों की भलाई के लिए हानिकारक हैं या यदि वह अपने भौतिक सुखों की प्राप्ति को ही अपने जीवन का परम लक्ष्य मानता है तो वह ईश्वर के आक्रोश का शिकार होगा और प्रकृति की कृपा से वंचित हो जायेगा। इसलिए यदि शासक अपने न्याय और कर्तव्य के मार्ग से हट जाता है तो इसका अर्थ ईश्वर की अवहेलना करना है और राजा होने के नाते प्राप्त प्राधिकारों से वंचित होना है। सिक्ख शिक्षाएं, इसलिए अन्याय को चुपचाप सहने के विरुद्ध हैं। सामाजिक और राजनीतिक बातों का आध्यात्मिकता से गहरा संबंध है। सिक्ख धर्म में न्याय के आधार पर बहुत तरीकों से ध्यान केंद्रित किया गया है और इसे स्वयं और सामाजिक संबंध पर इसके प्रभाव की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण शक्ति माना गया है। गुरुओं का मानना है कि सामाजिक समानता के बिना न्याय का कोई अर्थ नहीं है। न्याय के आधार में (1) दूसरों के अधिकारों के लिए सम्मान और (2) दूसरों का शोषण न करना जैसी बातों का भी समावेश है। दूसरों के अधिकारों के लिए सम्मान की नैतिक आवश्यकता गुरु नानक की शिक्षाओं में "सरबद्ध है" दूसरों को उनके अधिकारों से वंचित करना अर्थात इसे अवश्य ही ऐसे अनदेखा करना चाहिए जैसे मुसलमान के लिए सूअर का मांस और हिंदू के लिए गाय का मांस खाना वर्जित माना गया है। जैसे धार्मिक कारणों से दो समुदाय उपर्युक्त को सर्वाधिक गंभीर वर्जना मानते हैं उसी तरह किसी दूसरे के अधिकारों का अतिक्रमण करना एक गंभीर नैतिक अपराध है (अवतार सिंहः 83 पृ0 99)। न्याय के आधार को प्रशासक या राजा द्वारा स्व–नियमन के नजरिए से भी प्रयोग किया जाता है। जो कानून और न्याय की परिभाषा दूसरों पर राजा ने लागू की है, उसे अपने ऊपर भी लागू करना अत्यावश्यक है। यही विधि के नियम की आधुनिक संकल्पना है और जिसे मानव अधिकार सिद्धांतवादियों द्वारा राज्य प्रणाली का सर्वाधिक अनिवार्य तत्व माना गया है।

अतः सिक्ख धर्म में जो निहित है उसका मानव अधिकारों के आधुनिक समय के दर्शनशास्त्र से गूढ़ संबंध है अर्थात् इनकी उत्पति मनुष्यों की प्रकृति से हुई है और इस तथ्य के आधार पर ये सर्वव्यापी हैं अर्थात् इसका संबंध सभी से है और इसलिए किसी के साथ किसी तरह का भेदभाव, किसी का बहिष्कार या किसी को विशेष नहीं माना जा सकता। सिक्ख धर्म के मूल्य न्याय, समता, आपसी भाईचारा, समानता, दया और करूणा है। ये मूल्य, मनुष्यों के आत्मसम्मान, सामान्य रूप में मनुष्यों के बुनियादी अधिकारों, जीवन जीने, स्वतंत्रता प्राप्त करने, समानता, सुरक्षा, खुशहाली और सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक जीवन में भागीदारी और इसके ही साथ–साथ मोक्ष प्राप्ति के

अधिकार की सुरक्षा की मांग करते हैं। हालांकि एक महत्वपूर्ण पहलू उत्तरदायित्व है जो कि ईश्वर के समक्ष, अपने प्रति और समाज के प्रति हमारे अधिकारों के साथ जुड़ा है। अन्य शब्दों में सिक्ख परिप्रेक्ष्य में अधिकार और जिम्मेदारियां गूढ़ रूप से संबद्ध हैं और दोनों की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है। इस नजरिए से मानव अधिकारों के प्रति निजी उत्तरदायित्व और निजी प्रयास, उन लोकतांत्रिक सिद्धांतों को लागू करने के समान है जहां सद्गुण अनिवार्य आधार है।

मानवाधिकार और कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' : संकल्पनामूलक निर्वचन

• डॉ0 नरेंद्र व्यास

मानवाधिकार के अधिकार प्रधान पाश्चात्य दृष्टिकोण तथा कर्तव्य प्रधान भारतीय दृष्टिकोण में तुलना करते हुए लेखक का मानना है कि मानव के अधिकार और कर्तव्य परस्पर पूरक हैं – वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक का कर्तव्य दूसरे का अधिकार है तो दूसरे का कर्तव्य पहले का अधिकार। अधिकार हो, पर उनका पालन करवाने के लिए उचित साधन न हों, तो उनका कोई महत्व नहीं। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' को आज के मानवाधिकारों का आधार मान कर उसकी व्याख्या की है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक कालजयी रचना है जिसका महत्व सार्वकालिक ही नहीं सार्वभौमिक भी है। कौटिल्य के मतानुसार अपराध चाहे कितना ही पुराना क्यों न हो, अपराधी को दंड मिलना ही चाहिए। दंड तीन प्रकार के बताए गए हैं – अर्थ दंड, कारावास दंड और काय दंड। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दर्शित न्याय व्यवस्था हमारा मार्गदर्शन कर सकती है। इससे **justice delayed is justice denied** का समाधान भी संभव होगा।

पाश्चात्य दृष्टिकोण : मानवाधिकार की आधुनिक किंवा पाश्चात्य संकल्पना (अवधारणा) का उत्स इंग्लैंड के मैग्नाकार्टा (1225), फ्रांसीसी और अमेरिकी घोषणाओं (क्रमशः 1798 और 1791) को माना जाता है। ये मानवाधिकारों की पाश्चात्य गंगा का 'गोमुख' और 'गंगोत्री' है। कालांतर में बीसवीं सदी के दो–दो विश्वयुद्धों की भयानक त्रासदी के बाद जब संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई तो उसके घोषणा पत्र में मानवाधिकारों का उल्लेख किया गया, जिनमें स्वतंत्रता और समानता के सार्वभौमिक पालन पर सर्वाधिक बल दिया गया। तत्पश्चात् मानवाधिकारों की यह भागीरथी संयुक्त राष्ट्र महासभा के सार्वभौम घोषणा पत्र (1948) तथा कई अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं और अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों जैसी मंदाकिनी और अलकनंदा के संगमों से पुष्ट होते हुए भारत के संविधान के मैदानी भूभाग में अवतरित हुई। इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मर्पित करने वाली उद्देशिका में तथा भाग 3 में राजनीतिक और नागरिक मूल अधिकार एवं भाग 4 में राज्य की नीति के निदेशक तत्वों के अंतर्गत

• पूर्व निदेशक, केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली

भारतीय सामाजिक चेतना के अनुकूल मानव जीवन के अन्य विविध पक्षों – आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों से जुड़े हुए अधिकार सम्मिलित हैं। इन सभी अधिकारों में भाग 3 वाले मूल अधिकार तो न्यायालय में वादयोग्य और प्रवर्तनीय हैं, जबकि भाग 4 वाले अन्य अधिकार न्यायालय में वादयोग्य न होने पर भी मानव के गरिमामय जीवन तथा उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास और उदात्त मानवीय मूल्यों के लिए मूल अधिकारों जैसे ही महत्वपूर्ण माने जाते हैं। धीरे–धीरे दोनों के बीच का अंतर कम होता जा रहा है। यही नहीं, मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम (1993) तथा अन्यान्य अधिकारों के पारित होते जाने से भारत में मानव अधिकारों का दायरा बढ़ता जा रहा है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग तथा कुछ राज्यों में मानव अधिकार आयोगों की स्थापना हो जाने के बाद इन अधिकारों के प्रति जागरूकता में आशातीत वृद्धि एवं अधिकारों के संरक्षण की संभावनाएँ फलवती होती दिखाई पड़ने लगी हैं।

भारतीय दृष्टिकोण : मानवाधिकार का पाश्चात्य दृष्टिकोण अधिकार प्रधान है; जबकि प्राचीन भारत में यही कर्तव्य प्रधान रहा है। भारतीय संस्कृति में मानव के अधिकारों की एकांतिक सत्ता को महत्व नहीं दिया गया है। मानव समाज का अभिन्न अंग है, इसलिए अधिकारों की तुलना में समाज के प्रति उसके कर्तव्यों पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया जाता रहा है। इन्हीं कर्तव्यों के बलबूते पर वह आत्म कल्याण के तार्किक दृष्टि से विचार करें तो मानव के अधिकार और कर्तव्य परस्पर पूरक हैं – एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो कार्य एक व्यक्ति का कर्तव्य बताया जाता है, वही प्रकारांतर से दूसरे व्यक्ति या वर्ग का अधिकार बन जाता है। कर्तव्यों के निर्वाह में अधिकार अपने आप प्रतिबिंबित हो जाते हैं। अधिकार हों, पर उनका पालन करवाने के लिए उचित साधन उपलब्ध न रहें तो अधिकारों का कोई महत्व नहीं। अधिकारों की रक्षा के लिए एक सुदृढ़ तंत्र आवश्यक है, जिसे सुविधा के लिए आप 'राजसत्ता' कह सकते हैं। यही राजसत्ता हमारे वर्तमान लोकतांत्रिक जीवन में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसे राज्य के तीन अंगों के रूप में समादृत है। भारत में, तथा अन्य देशों में भी, ऐतिहासिक संदर्भ में यानी देश और काल की स्थिति के अनुसार इस राजसत्ता का स्वरूप भिन्न–भिन्न रूपों में अभिव्यक्ति पाता रहा है।

प्राचीन भारत की चिंतन परंपरा और कौटिल्य का अर्थशास्त्र

कौटिल्य ने चौथी शताब्दी ई. पू. में 'अर्थशास्त्र' नामक विशाल ग्रंथ की रचना की थी। कई परस्पर संबद्ध विषयों :– राजनीति, राजनय, प्रशासन, न्याय व्यवस्था, दंड नीति, सैन्य विज्ञान, समाज व्यवस्था, आर्थिक नियमन आदि का विस्तार से वर्णन–विवेचन इसका प्रतिपाद्य रहा है। प्राचीन भारत के राजतंत्र के संदर्भ में होने के बावजूद सिद्धांत और व्यवहार – दोनों ही धरातलों पर सार्वदेशिक और सार्वकालिक उपयोगिता की दृष्टि से यह कृति सारे विश्व में एक गौरव ग्रंथ के रूप में समादृत है।

ईसा पूर्व की कई शताब्दियों में उपर्युक्त विषयों से संबंधित भारतीय चिंतन की जो लंबी परंपरा रही होगी, उसका सार–संग्रह इस ग्रंथ में देखने को मिलता है। इस तथ्य को स्वयं ग्रंथकार ने यों स्वीकार किया है : "पृथिव्यां लाभे पालने च यावंत्यर्थ शास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकम् इदमर्श शास्त्रं कृतम्।" ज्ञातव्य है कि यही परंपरा कामंदक के 'नीतिसार', 'शुक्रनीतिसार' तथा आगे भी चलती रही।

यहाँ एक और बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है : कौटिल्य रचित 'अर्थशास्त्र' को आधुनिक अर्थ वाले अंग्रेज़ी शब्द Economics का पर्याय मानना उचित साथ–साथ समाज की सुख–शांति का निमित्त बनता है। भारत के संविधान के भाग 4 क में दस मूल कर्तव्यों का समावेश है। कदाचित् भारतीय परंपरा के अनुसरण में अधिकारों और कर्तव्यों में संतलन बनाए रखने के लिए ही ऐसा करना आवश्यक समझा गया हो। नहीं होगा। वस्तुतः यह आधुनिक युग की राज्यनीति, विधिशास्त्र/न्यायशास्त्र और उनके संचालन के लिए आवश्यक आर्थिक चिंतन के एकीकृत स्वरूप वाले अर्थ का वाचक है। प्राचीन भारत में कौटिल्य द्वारा प्रयुक्त यह 'अर्थशास्त्र' शब्द इसी पारिभाषिक अर्थ में प्रचलित रहा था। इस बात की पुष्टि विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस', वात्स्यायन के 'कामसूत्र' और महाभारत के 'शांतिपर्व' से भी हो जाती है।

कौटिल्य के नाम से विख्यात – चाणक्य या विष्णुगुप्त के जीवनकाल, 'अर्थशास्त्र' के रचनाकाल, उसके प्रामाणिक –अप्रामाणिक संस्करण आदि के ऐतिहासिक सत्यासत्य के विवाद में उलझे बिना हम यहाँ केवल वर्तमान में उपलब्ध 'अर्थशास्त्र' में वर्णित मानवाधिकारों किंवा कर्तव्यों से संबंधित बातों तक ही अपने को सीमित रखना चाहेंगे।

प्रासंगिक चर्चा : कौटिलीय अर्थशास्त्र 15 अभिकरणों तथा 160 प्रकरणों में विभक्त एक विशालकाय ग्रंथ है। यों तो सभी वर्णित विषय मानवाधिकारों और कर्तव्यों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जुड़े हुए माने जा सकते हैं, किंतु हमारे विवेच्य विषय से प्रत्यक्षतः संबद्ध अधिकरण हैं : प्रथम अधिकरण 'विनयाधिकारिक', (राजा का सामान्य कार्य–व्यवहार); द्वितीय अधिकरण 'अध्यक्ष प्रचार' (अंशतः, विभिन्न विभाग और उनके अध्यक्षों के कर्तव्याकर्तव्य); तृतीय अधिकरण 'धर्मस्थीय' (मुख्यतः, सिविल न्यायालय तथा न्याय प्रक्रिया); चतुर्थ अधिकरण 'कंटकशोधन' (मुख्यतः, फौजदारी से संबंधित विधि विरुद्ध आचरण और उनके लिए दंड व्यवस्था)। अन्य अधिकरणों में वर्णित विषयों का अंश रूप में यत्रतत्र उपयोग भी संभव है।

राजधर्म : कौटिल्य शक्तिशाली राजतंत्र के प्रबल समर्थक थे (फिर भी उनके अर्थशास्त्र में कुछ गणतंत्रों का उल्लेख आया है)। राज्य के सात अंगों में राजा को सर्वशक्तिमान माना गया है। वह कार्यपालिका, न्यायपालिका और सेना का सर्वोच्च शासक है। वही प्रजा की मत्स्य न्याय से (यानी 'बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती

है' या 'जिसकी लाठी उसकी भैंस') रक्षा-करता है। प्रजा के कल्याणार्थ वह दंड धारण करता है। प्रजा के लिए वह आदर्श पुरुष (आज की शब्दावली में role model) है। उसके विशिष्ट गुणों (कर्तव्यों) का उल्लेख करते हुए आचार्य का कथन है : **"विद्या विनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः"। अनन्यां पृथिवीं भुंक्ते सर्वभूतहिते रतः"** अर्थात् 'राजा को विद्यावान, चरित्रवान, विनयशील यानी उच्छृंखलता और अहंकार से रहित, प्रजावत्सल तथा प्राणिमात्र का हितचिंतक होना चाहिए।' इसी तरह, उसे प्रजा के सुख व हित को अपना हित समझना चाहिए। उसके लिए अपने को अच्छा लगने वाले कार्यों को करने का कोई महत्व नहीं है, यानी उसका हित तो प्रजाजनों को अच्छे लगने वाले कार्यों को संपन्न करने में निहित है।' **"प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। नात्मप्रिय हितं राजः प्रजानां तु प्रियं हितम्।"** (1.18.10)

वर्तमान भारतीय संदर्भ में हम 'राजा' को 'समस्त शासन व्यवस्था आर न्याय व्यवस्था का वाचक तथा 'प्रजाजन' को 'जनता' का पर्याय मान सकते हैं।

न्याय व्यवस्था और दंड नीति :

प्रस्तुत प्रसंग में सर्वाधिक उपयोगी अधिकरण हैं : धर्मस्थीय और कंटकशोधन। भारतीय संस्कृति में 'धर्म' शब्द की अर्थव्याप्ति अत्यंत विस्तृत रही है। 'प्रकृति', 'स्वभाव', 'कर्तव्य' आदि के वाचक इस शब्द को कौटिल्य ने 'न्याय' वाले अर्थ में भी ग्रहण किया है, इसीलिए न्यायकर्ता को 'धर्मस्थ' (3.20.3) कहा गया है। कौटिल्य के अनुसार 'धर्मस्थ' को छल से रहित, निष्पक्ष और लोकप्रिय होना चाहिए। 'कंटकशोधन' नामक अधिकरण में न्यायाधीश को 'प्रदेष्टा' कहा गया है (4.1.1) उसमें भी वे सभी गुण होने चाहिएं जो एक धर्मस्थ (या धर्माध्यक्ष) के बताए गए हैं।

न्याय–व्यवस्था में पक्षपात और भ्रष्टाचार पनपने न पाए, इसके लिए कौटिल्य ने धर्मस्थ की अग्रिम परीक्षा के लिए गुप्तचरों का उपयोग करने की बात कही है (4.4.10)। आप चाहें तो, आज के बहु प्रचलित शब्द 'दंश/डंक अभियान' से इसकी तुलना कर सकते हैं। यदि न्यायाधीश (या और कोई प्राधिकारी) रिश्वत लेता है, वादी या प्रतिवादी को डराता–धमकाता है तो वह भी दंड के योग्य है। कौटिल्य ने विविध प्रकार के भ्रष्टाचारों के लिए अलग–अलग दंड निर्धारित किए हैं (4.9.35)।

सार रूप में, कौटिल्य प्रणीत न्याय प्रक्रिया सहज और सरल थी (यानी आज की तरह उसमें विधि निर्वचन की जटिलता का अभाव था), जिसमें वादी, प्रतिवादी और साक्ष्य को अपना पक्ष प्रस्तुत करने की स्वतंत्रता थी। अभियोगों के सत्यासत्य की परीक्षा के लिए गुप्तचरों की सहायता ली जा सकती थी। कौटिल्य ने कालबाधित सिद्धांत को मान्यता नहीं दी। अपराध कितना ही पुराना क्यों न हो जाए, अपराधी को दंड मिलना ही चाहिए (3.19.29)। दंड देने से पहले अपराध की मात्रा, अपराधी का सामर्थ्य,

उसकी सामाजिक स्थिति, उसमें सुधार की संभावना आदि तथ्यों को भी ध्यान में रखा जाता था। दंड तीन प्रकार के बताए गए हैं : अर्थ दंड, कारावास दंड और काय दंड।

दंड के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है : "दंडेनैव हि सर्वं प्रवर्तते", अर्थात् 'दंड के भय से ही सब कुछ ठीक–ठाक चलता है। यही बात तुलसी के शब्दों में "भय बिनु होहिं न प्रीत" अथवा ग्राम्य मुहावरे में 'मार के आगे भूत भागे' से व्यक्त होती है।

प्रासंगिकता : सहज रूप में प्रश्न किया जा सकता है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व की रचना है और राजतंत्र का समर्थक है तो फिर आधुनिक युग में और वह भी भारत जैसे लोकतंत्रात्मक गणराज्य में उसकी सार्थकता या प्रासंगिकता क्या हो सकती है? प्रश्न जितना सहज रूप में पूछा जा सकता है, उतना ही सहज उत्तर सार रूप में यह होगा कि कुछ रचनाएँ कालजयी होती हैं और उनका महत्व सार्वकालिक ही नहीं सार्वभौमिक भी होता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र ऐसी ही कालजयी रचनाओं में से एक है।

जब कर्तव्य और अधिकार सहज रूप में प्रवहमान रहते हुए मानव जीवन का अंग बनकर समाज को संचालित करते रहते हैं, तब किसी प्रकार की समस्या उत्पन्न नहीं होती (जिसे मात्र 'काल्पनिक आदर्शवाद' की संज्ञा देना ही उचित होगा); किंतु जब कर्तव्यपरायणता में च्युति होती है अथवा मानवाधिकारों का हनन होने लगता है (ऐसी स्थिति मानव स्वभाव के अनुकूल है भी) तब विपथनगामी शक्तियों को सही रास्ते पर लाने के लिए नियामक सत्ता और न्याय व्यवस्था को एक साथ या अलग–अलगसक्रिय होना पड़ता है।

मानव अधिकारों की रक्षा तथा भारत की लोकतांत्रिक प्रणाली में स्थायित्व लाने के लिए उत्कृष्ट शासन तंत्र और न्यायपालिका द्वारा तत्परता से न्याय निर्णयन की महत्ता भूमिका निभाते रहने की परमावश्यकता है। इसके लिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दी गई व्यवस्थाओं से पर्याप्त मार्गदर्शन मिलने की संभावनाएँ समाप्त नहीं हुई हैं, भले ही वे व्यवस्थाएँ तत्कालीन राजतंत्र को स्थिरता प्रदान करने के लिए कठोर दांडिक न्याय प्रणाली का ही समर्थन क्यों न करने वाली हों। आज हमारे देश में ही नहीं, समस्त विश्व में मानवाधिकारों का उल्लंघन या उनके हनन को लेकर जितनी चुनौतियाँ मुँह बाए खड़ी हैं या सुरसा की आँत की तरह अपना विस्तार किए जा रही हैं, उनके उचित समाधान के लिए यह अर्थशास्त्र प्रकाश स्तंभ का काम कर सकता है।

आज के युग में समाज कंटकों का बोलबाला 'दिन दूना रात चौगुना' बढ़ता जा रहा है। आतंकवाद, महिलाओं से छेड़छाड़, यौन उत्पीड़न, बलात्संग, औरतों और बच्चों का अवैध व्यापार, कन्या भ्रूण हत्या, शिशु हत्या, दहेज प्रथा, देह व्यापार, हिंसा, शोषण, दमन, उत्पीड़न जैसे कितने ही दूषण (सूची जितनी चाहें लंबी होती जाएगी) हमारे

सामने चुनौती बनकर खड़े हैं। और तो और, पर जब 'रक्षक ही भक्षक' बन जाते हैं, अर्थात् पुलिस द्वारा मानव अधिकारों के हनन और अमानवीय व्यवहार के अनेकानेक उदाहरण बढ़ते जा रहे हैं, तब अर्थशास्त्र में बताई गई 'काय दंड' की व्यवस्था को लोगबाग 'ठीक' बताने लगते हैं। ऐसी स्थिति में विवेक को तिलांजलि न देते हुए अर्थशास्त्र में वर्णित व्यवस्थाओं को समसामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालते हुए, यानी उन्हें अनुकूलित करते हुए अंगीकृत किया जाए तो उचित होगा।

अनंतिम बात

न्याय निर्णयन के प्रसंग में पिछले कुछ वर्षों में जो स्थिति देखी जा रही है (प्रिंट मीडिया और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया ऐसे उदाहरणों से भरा रहता है, इसलिए विशेष [illegible] की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती) उसे देखते हुए तो पूछा जा रहा है कि क्या खानदान, धन दौलत, सत्ता से निकटता और बाहुबल आदि के सामने कानून लाचार है? यह ठीक है कि कानून को 'अंधा' कहा जाता है और केवल साक्ष्य पर आधारित न्याय निर्णयन की प्रणाली पर बल दिया जा रहा है तो आम जनता की नज़रों में इस व्यवस्था में कई खामियाँ स्पष्ट रूप से उजागर हो रही हैं। जब मानवाधिकारों के हननकर्ता और अपराधी केवल पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में या साक्ष्य के पलट जाने मात्र पर न्यायालय द्वारा बरी कर दिए जाने लगे हैं तो पीड़ित व्यक्तियों का न्याय व्यवस्था पर से विश्वास उठ सा जाता है। फिर प्रोत्साहन पाकर अपराधी अपनी मूछों पर ताव देते हुए खुले साँड की तरह निर्भय होकर पुनः पुनः संख्यातीत अपराधों में लिप्त हो जाते हैं। तब समाज में फिर वही प्रश्न उठता है कि कानून का यह अंधापन इंद्रियजन्य जैसा तो ठीक है, पर सहज बुद्धिजन्य विवेक न्याय–निर्णयन में सहायक क्यों नहीं हो सकता? ऐसी स्थिति में समाज में आधुनिक न्याय प्रणाली को कोसते हुए प्राचीन अथवा मध्यकालीन दंड व्यवस्था को श्रेयस्कर समझने की बातें होने लगती हैं। तब उन्हें या तो कायिक दंड अच्छा लगने लगता है या फिर उनकी जबान पर अकबर–बीरबल, तेनालीराम या मुल्ला नसरूद्दीन के विवेक सम्मत किस्से आ जाते हैं। न्याय विशारदों को इस संबंध में पुनर्विचार करना होगा। स्वतः संज्ञान के बढ़ते हुए उदाहरण कुछ आशा तो जगाते हैं ही।

अंतिम दाँव : पाश्चात्य चिंतन पर आधारित जो राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तरीय मानवाधिकार आयोग स्थापित हुए हैं वे मानव के अधिकारों के बारे में तो जागरूकता लाने और जनता द्वारा भेजी गई शिकायतों पर विचार कर नियमित न्यायालयों की सहायता पहुँचाने का अच्छा कार्य कर रहे हैं। पर क्या यह उचित नहीं होगा कि उनके कार्यक्षेत्र के साथ भारतीय संस्कृति पर आधारित कर्तव्यों को भी जोड़ दिया जाए? ऐसी स्थिति में इनके नामकरण में तदनुरूप बदलाव आवश्यक होगा। या फिर वर्तमान न्यायालयों का कार्यक्षेत्र बाध्यकारी मूल अधिकारों तक ही सीमित कर दिया जाए तथा राज्य की नीति के निदेशक तत्वों से संबंधित अधिकारों के वादों के निपटान का काम

राष्ट्रीय आयोग / राज्य स्तरीय आयोगों को सौंप दिया जाए या फिर विकल्प के रूप में वर्तमान न्यायालयों के दो खंड बनाकर कार्य आबंटन की प्रक्रिया सुनिश्चित कर दी जाए। इससे justice delayed is justice denied वाली उक्ति का समाधान संभव है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दर्शित न्याय व्यवस्था इसमें मार्गदर्शन कर सकती है।

लोक और शास्त्र में मानवाधिकार

• वागीश शुक्ल

लोक तथा शास्त्र परस्पर निर्भर हैं। शास्त्र और लोक अपनी मर्यादाएं प्रकृति के अनुरूप ही बनाते हैं। लोक तथा शास्त्र की परस्परता का भारतीय स्वरूप हमें हमेशा अपने परिप्रेक्ष्य के अनुसार रखना होगा। प्राकृतिक न्याय के संदर्भ में ही शास्त्र तथा लोक अपनी मर्यादाएं बनाते हैं। इन मर्यादाओं में परिवर्तन होता रहा है तथा ये मानवीय करूणा और मनीषा से परिलक्षित हैं। अपनी संस्कृति के अनुसार जीने का अधिकार एक महत्वपूर्ण अधिकार है जो संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मान्य है। भारत ही एक ऐसा देश है जिसने अपने सम्पूर्ण इतिहास में इस अधिकार की सहज स्वीकृति राजनीति और समाज में बनाए रखी है।

हम भारतीय संदर्भ में 'लोक' और 'शास्त्र' को समझने का थोड़ा प्रयास करके आगे की बातें उठायें तो बेहतर रहेगा। हिन्दी के समकालीन प्रयोग में 'लोक' का प्रयोग People शब्द की जगह और शास्त्र का प्रयोग Scripture या Canon की जगह होने लगा है। ये दोनों अवधारणाएं पश्चिमी सभ्यता के हजारों साल के धार्मिक और राजनीतिक सामाजिक अनुभव से उपजी हुई अवधारणाएँ हैं। पश्चिम में धर्म एक संघटन के माध्यम से अभिव्यक्त होता है जिसके लोग जन–सामान्य से इस संघटन की सदस्यता प्राप्त करने के नाते भिन्न और विशेषाधिकार सम्पन्न होते हैं, साथ ही उन्हें आध्यात्मिक अनुभवों से लेकर लौकिक सामाजिक आचरण तक की वैधताओं को तय करने का एकमात्र माध्यम भी माना जाता है। इस प्रकार न्याय, अधिकार एवं कर्तव्य, सभी का स्रोत सामान्य जीवन जी रहे नागरिकों की पहुँच से बाहर होता है। चूंकि ये ही क्षेत्र राजसत्ता के कार्य क्षेत्र भी हैं इसलिए धर्म और राजनीति में संघर्ष तथा सहयोग की एक लम्बी कहानी पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में बनी हुई है जिनमें कभी एक संघटन हावी होता है तो कभी दूसरा। किन्तु इस कहानी में स्वतंत्रता और परतंत्रता, सदाचरण और कदाचरण, दोनों का निर्धारण, नियमन और कार्यान्वयन जन–सामान्य से ऊपर हट कर बनी हुई सत्ताएँ करती हैं। इस प्रकार people और canon में संरक्षित–संरक्षक का सम्बन्ध ही आदर्श सम्बन्ध के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है।

• उपाचार्य, गणित विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, हौज खास, दिल्ली

भारतीय संदर्भ में परिस्थिति कुछ भिन्न रही है। धर्म और मोक्ष दो स्वतंत्र पुरुषार्थ रहे हैं साथ ही अर्थ और काम भी स्वतंत्र पुरुषार्थ हैं। इस प्रकार चार पुरुषार्थों की अवधारणा में मनुष्य की जीवन चर्चा का निर्धारण रहा है। यह स्वीकार किया गया है कि इनमें से किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए कोई अकेला मार्ग नहीं है। साथ ही, धर्म से नियन्त्रित अर्थ और धर्म तथा अर्थ से नियन्त्रित काम, इस प्रकार की पुरुषार्थ त्रयी का संयोजन यह बताता है कि जीवन के किसी क्षेत्र के आचरण को जीवन के अन्य क्षेत्रों के आचरणों से टकराते हुए और उनका अतिक्रमण करते हुए नहीं बढ़ाया जा सकता। इस नाते शास्त्र 'कृतक' कहे गये हैं अर्थात् वे बनाये गये हैं। ऐसे ही वे आप्त पुरुषों द्वारा बनाये जाते हैं और फलतः प्रमाण हैं तथा मान्य हैं, वे पौरुषेय हैं और इस प्रकार उन पर पक्ष–विपक्ष से चर्चा तथा उनके अर्थ–निर्धारण की प्रक्रिया अन्य पुरुषा द्वारा सम्भव है। वद यद्यपि अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण है, उनका अर्थ–निर्धारण पौरुषेय है और हमारे पास वेदार्थ–प्रक्रिया का जो प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है, अर्थात् निरूक्त, उसमें महर्षि यास्क ने आठ नौ प्रकार के सम्प्रदाय गिनाये हैं जो वेदार्थ–प्रक्रिया के उनके समय तक प्रचलित सम्प्रदाय थे। वैदिक विधि–निषेध वाक्यों में भी जब उनका अर्थ निकालने की बात आती है तो बहुत सी तर्कणाओं का आश्रय लिया जाता है। महर्षि यास्क ने निरूक्त में स्पष्टतया उद्घोषित किया है कि तर्क ही उत्तर कालीन समय में ऋषि है। कालिदास के अभिज्ञान–शाकुन्तल का वाक्य "संता हि सन्देह पदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः" (सत्पुरुषों को जब कहीं सन्देह हो तो उनके अन्तः करण की प्रवृत्ति, या यों कहें कि conscience ही प्रमाण के रूप में स्वीकार्य है) न केवल एक नाटक का संवाद है अपितु इसे मीमांसा के शीर्षस्थ आचार्य कुमारिल भट्ट ने भी प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है; हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मीमांसा का प्रमुख कार्य वेद विहित आचरण के मानदण्ड निर्धारित करने के लिए वेद–मंत्रों का तात्पर्य समझना है।

इस प्रकार शास्त्र लोक–व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए, औचित्य और अनौचित्य को उसके भीतर से निर्धारित करते हुए ही अपनी मर्यादाएँ व्यवस्थित करता है। साथ ही, इन मर्यादाओं के पुनर्व्यवस्थापन की भी पूरी गुंजाइश वह छोड़ता है और इसके लिए वह पुनः लोक–व्यवहार की ही ओर मुड़ता है। उदाहरण के लिए हम शब्द व्यवहार को देख सकते हैं। पाणिनीय व्याकरण 'शब्दानुशासन' के नाम से जाना जाता है, वह शब्द–व्यवहार का शास्त्र है। किन्तु ऐसे अनेक शब्द और भाषिक प्रयोग हैं जो स्वयं पाणिनि और पंतजलि जैसे प्रामाणिक महर्षियों द्वारा किये गये हैं और उनकी साधुता पाणिनीय व्याकरण के अनुसार नहीं निर्धारित की जा सकती। अतः शास्त्र की वैधता उसके नियमों के अतिरिक्त 'शिष्ट–प्रामाण्य' में भी स्वीकार की जाती रही है और शिष्ट का तात्पर्य निर्लोभ, निर्मत्सर पुरुषों से रहा है, किसी empowered elite से नहीं। यह 'शिष्ट–प्रामाण्य' धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाओं में, तर्क–विद्या में, षड्–दर्शनों में, सर्वत्र स्वीकृत है।

जब हम लोक मानस की ओर देखते हैं तो वहां हमें शास्त्र की स्वीकृति भी मिलती है और उस स्वीकृति का लोक–चेतना द्वारा नियमन भी। हम एक उदाहरण लेते हैं: भगवान राम हमारे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं इसे हमारा शास्त्र भी स्वीकार करता है और लोक भी। अवध से लेकर मिथिला तक प्रत्येक विवाह में वर को राम के रूप में, वधू को सीता के रूप में, मानते हुए लोक गीत गाये जाते हैं। किन्तु इसी के साथ, इन क्षेत्रों के लोक–व्यवहार में अगहन महीने में विवाह करने की मनाही है क्योंकि भगवान् राम और मां जानकी का विवाह अगहन महीने में हुआ था जब कि अगहन महीने में विवाह करने पर कोई धार्मिक या शास्त्रीय प्रतिबन्ध नहीं है और प्रत्येक पंचांग विवाह मुहूर्त अगहन के महीने में देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भगवान राम को मर्यादा पुरुषोत्तम स्वीकार करते हुए भी उनके और मां जानकी के वैवाहिक जीवन में जो क्लेश की गाढ़ी छाया रही है उससे लोक–व्यवहार अपने को बचाना चाहता है और उसकी विधे उसन शास्त्र वचन के नियमन में ढूँढ़ी है। दूसरी ओर कौटलीय अर्थशास्त्र यह घोषित करता है कि शास्त्र का 'पाठ' तिरस्कृत किया जा सकता है; उदाहरण के लिए शास्त्र वचन है कि यदि मेंड़ काटी गयी मिले और हाथ में कुदाल लिये कोई वहां खड़ा हो तो उसे मेंड़ काटने का अपराधी मानना चाहिए किन्तु इस वचन की मान्यता वहां समाप्त हो जाती है जहां हाथ में कुदाल लिये कोई बच्चा खेलता दिखायी दे, ऐसी स्थिति में उसे मेंड़ काटने का अपराधी नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिसे 'प्राकृतिक न्याय' कहते हैं उसी के संदर्भ में शास्त्र और लोक अपनी मर्यादाएँ बनाते रहे हैं। ये मर्यादाएँ परिवर्तनीय परिवर्धनीय भी रही है और लचीली भी किन्तु इनका परिवर्तन–परिवर्धन–परिमार्जन यादृच्छिक नहीं है, न ही वह ऊपर से और बाहर से थोपा जा सकता है, वह मानवीय कल्याण और अभ्युदय से, करूणा और मनीषा से उपजे व्यावहारिक सन्तुलन में और सन्तुलन से परिलक्षित है, किसी वैचारिक नुस्खे का प्रदाय नहीं है। जैसा कि बहुत स्पष्ट रूप से इस प्रचलित नीति श्लोक में कहा गया है:

वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना, नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः।।

(वेद भिन्न हैं, स्मृतियाँ बहुतायत से और अलग–अलग हैं, कोई मुनि ऐसा नहीं जिसकी राय और मुनियों की राय से पूरी मिलती हो। धर्म का वास्तविक तत्व किसी गुफा में छिपा हुआ है, उसे ढूँढ़ना एक निष्फल और असमाप्य प्रयास है, व्यवहार का रास्ता नहीं है तो शिष्ट जन जो अपनाते हैं, उसी रास्ते पर चलना चाहिए।)

विवेचन के परिणाम स्वरूप जो विवेक प्राप्त होता है वही मार्ग दर्शक है। वह लोक–मत में व्याप्त है और शास्त्र प्रक्रिया में अनुस्यूत। कोई ऐसा बाह्य सत्य लोक और शास्त्र का नियामक नियन्ता नहीं हो सकता जो विवेक की परख से बाहर हो।

'लोक' और 'शास्त्र' के इस परस्पर का यह भारतीय स्वरूप और उनका आपसी अनुप्राणन हमें सर्वदा अपने परिप्रेक्ष्य में रखना होगा यदि हम भारतीय संस्कृति में मानवाधिकार के प्रासंगिक विमर्श की चर्चा करते हैं। 'अधिकार' वह तीसरा शब्द है जिस पर ध्यान देने की हमें जरूरत है। 'अधिकार' शब्द का हमारे यहां एक तरफा वसूली वाले शब्द right का पर्याय नहीं है, वह 'क्षेत्र–विशेष' में निर्णय लेने की शक्ति और कार्यरत होने की आचार–संहिता के रूप में परिभाषित है। इस प्रकार जिसे 'right' कहते हैं वह वस्तुतः विभिन्न अधिकार क्षेत्रों के परस्पर अनतिक्रमण की पहचान का मामला है। इसे हम अभिज्ञान–शाकुन्तल के एक प्रसंग से समझ सकते हैं। दुष्यन्त की अंगूठी शकुन्तला की उँगली से फिसल कर एक मछली के द्वारा निगल ली गयी जिसे एक धीवर ने पकड़ा और मछली के टुकड़े करने के बाद मिली उस रत्नजटित अंगूठी को बेचने के लिए सरोफ़ा बाजार में ले गया जहां उस राजा के सिपाहियों ने अंगूठी पहचान कर इस आरोप में पकड़ लिया कि उसने यह अंगूठी चुरायी है। हिरासत में लिये जाने से लेकर सारी पूछताछ के दौरान वह धीवर भयभीत है क्योंकि यदि उसे दोषी पाया जाता है तो मृत्युदण्ड की सज़ा निर्धारित है। किन्तु जब पूछताछ के दौरान उसके मछली मारने के पेशे को लेकर नगराधिकारी व्यंग्य करता है और इस रोज़गार को 'अशोभत' के रूप में बताता है तब धीवर निर्भीक भाव से अपने परम्परागत व्यवसाय पालन को उचित ठहराता है क्योंकि उसे मालूम है कि चोरी के आरोप में पूछताछ करते हुए उसके पेशे पर व्यंग्य कर के नगराधिकारी ने अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण किया है और इस प्रकार अपने रोज़गार को निभाते हुए स्वाभिमानपूर्वक जीने के उसके मानव अधिकार पर चोट की है। महाराज दुष्यन्त भी अगूँठी के बराबर का दाम दे कर ही अपनी अंगूठी वापस लेते हैं और इस प्रकार यह स्वीकार करते हैं कि सम्पत्ति संबंधी तत्कालीन नियमों के अनुसार मछली के पेट में मिली अंगूठी पर स्वामित्व उस धीवर का ही था और चूंकि वह उसे बेच कर उसके बदले में धन चाहता था अतः उसका उचित मूल्य दे कर ही उससे वह अंगूठी ली जा सकती थी। यहां राजा द्वारा धीवर के अधिकार का सम्मान भी महत्वपूर्ण है और जहां मानवाधिकार का अतिक्रमण हुआ है उसके प्रतिरोध में मौत की दहलीज पर खड़े धीवर की निर्भीकता भी। किन्तु उस अधिकार का भी विरोध नहीं किया गया है जो चोरी के आरोप में पकड़े गये व्यक्ति से सख्ती से पूछताछ का प्रशासनिक अधिकार था।

इस प्रकार अधिकार क्षेत्रों के परस्पर अनतिक्रमण और सहयोगी सन्तुलन तथा सहकार में ही right की अवधारणा का स्थान खोजा गया है। राज्य, व्यक्ति, समाज, शासन और शासित में विरोध–मूलक, युद्ध मूलक, जय पराजय–मूलक, संघर्ष–मूलक द्वित्व की कल्पना का हमारे यहां स्थान नहीं रहा है। व्यवस्था उन की सहमति और सम्मति का ध्यान रखती है जो उसके द्वारा व्यवस्थित होते हैं, व्यवस्थित उस मर्यादा और शासन–सीमा का ध्यान रखते हैं जो व्यवस्था द्वारा बनायी जाती है।

'अपनी संस्कृति के अनुसार जीने का अधिकार' उन अधिकारों में से एक है जिन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा स्वीकृत प्रसंविदाओं में स्थान मिला है। शायद हमारे लिए यह जानना ज़रूरी होगा कि इस अधिकार को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा औपचारिक और विधिक स्वीकृति देना क्यों आवश्यक माना गया। मानवीय इतिहास के सन्दर्भ में हमारे सामने ऐसे उदाहरणों की एक लम्बी श्रृंखला है जिनमें बड़े–बड़े समुदायों की जीवन शैलियाँ समाप्त कर दी गयीं। जब भी धर्म–प्रचार और राजनीतिक सैन्य शक्ति का गठजोड़ बना कर दूसरे देशों और समाजों पर विजय–अभियान चलाये गये ऐसा हुआ। सम्पूर्ण यूरोप के ईसाई करण के दौरान प्राचीन यूरोप के देवी देवताओं, पूजा पद्धतियों, तीज त्यौहारों, वैवाहिक परम्पराओं को आमूल चूल नष्ट किया गया। इससे सांस्कृतिक मूल्य पूरी तरह बदल गये और उचित अनुचित के सरोकार विस्थापित हो गये। उदाहरण के लिए हम विश्वप्रसिद्ध नाटक हैमलेट को सामने रख सकते हैं। इसका कथानायक हैमलेट है जो एक राजकुमार है। उसके पिता की मृत्यु के बाद उसकी मां दूसरा विवाह अपने देवर अर्थात् हैमलेट के चाचा से कर लेती है। अब हैमलेट का चाचा राजा हो जाता है। इससे हैमलेट का आक्रोश जगता है। किन्तु इस आक्रोश का कारण राजपद का हक छिनना नहीं है जो यथावत् सुरक्षित ही है, कारण यह है कि हैमलेट अपनी मां के इस आचरण को पारिवारिक व्यभिचार अर्थात् incest मानता है। यह मूल कथा यूरोपीय समाज के ईसाई बनने के पूर्व की थी जिसमें एक विधवा का अपने देवर से विवाह कर लेना न केवल अनुचित नहीं था अपितु परम्परा द्वारा अनुमोदित था। किन्तु जब शेक्सपीयर ने इस पर नाटक लिखा तो उन्होंने अपने समय में अर्थात् एलिज़ाबेथन युग में, स्वीकृत नियम इस पर लागू किये। ईसाई धर्म के अन्तर्गत एक विधवा का अपने देवर से विवाह करना पारिवारिक व्यभिचार की श्रेणी में गिना जाता है। इसी बुनियाद पर इस नाटक का ट्रैजिडी के रूप में संकल्पन आधारित है। विश्व की श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों में होने के बावजूद जब इसकी कथा किसी ऐसे समाज के लोगों को सुनायी जाती है जो ईसाई नियमों के अधीन अपना जीवन नहीं बिताते तो उनमें उस जुगुप्सा का संचार नहीं हो पाता जिससे वे हैमलेट के आक्रोश के साथ अपना साधारणी–करण कर सकें। इस नाटक का अध्ययन सैकड़ों वर्षों से निरन्तर चल रहा है अतः संसार के प्रायः सभी भागों में इसकी प्रस्तुतियां की गयी हैं और इस पर विभिन्न दृष्टिकोणों से काम भी हुआ है। अफ्रीका के कई समुदायों से इस तरह की प्रतिक्रिया मिली कि हमारे समुदाय में भी तो विधवा का देवर से विवाह वैध और अनुमोदित है, इसमें आक्रोश और जुगुप्सा तथा व्यभिचार की कौन सी बात है। हम स्वयं भारत में अनेक समुदायों से परिचित हैं जिनमें यह सर्वमान्य है। प्राचीन अरब के अनेक सामाजिक नियम इस्लाम आने के बाद बदल दिये गये, यही हाल प्राचीन ईरान का हुआ। ईरान की पुरानी पहलवी भाषा प्रशासकीय आदेश से नष्ट कर दी गयी। यह 691 ई. में हुआ और उसके बाद लगभग तीन सौ वर्षों तक ईरानी अपनी भाषा में कोई साहित्य रचते नहीं पाये जाते। बाद में जो भाषा–अर्थात् फ़ारसी–सामने

आती है वह अरबी से लदी फदी एक ऐसी भाषा है जिसमें प्राचीन ईरानी शब्द अल्पमत में हैं। यही छल सम्पूर्ण मध्य एशिया का है। लैटिन अमरीका की सारी प्राचीन भाषाएँ और जीवन पद्धतियाँ एक झटके के साथ समाप्त की गयीं और उनका समस्त व्यवहार स्पेनी भाषा में होता है। अफ्रीका का भी संवाद अंग्रेजी या कभी कहीं फ्रेंच में है। यह सब न स्वेच्छा से हुआ न क्रमशः हुआ, यह बलात् और एक झटके में हुआ। स्पष्ट ही इन सारी बातों के पीछे विजेताओं की यह सोच रही है कि वे न केवल राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक रूप से विजितों पर आधिपत्य स्थापित करने के हकदार हैं अपितु संस्कृति, साहित्य, गीत, नृत्य और नाट्य--प्रस्तुति के मानदण्ड निर्धारित करने के भी अधिकारी वे ही हैं, विवाह, परिवार जैसी संस्थाएं भी उन्हीं के मॉडल पर बनायी जानी चाहिए, अभिवादन और आतिथ्य के नियम भी वे ही विजितों के समाज के लिए तय करेंगे।

इस तरह सारी दुनिया को एक सार करने के प्रयासों पर अगर कुछ रोक लगी तो स्वयं यूरोप के आत्ममन्थन से। द्वितीय महायुद्ध के बाद से यह विचार जोर पकड़ने लगा कि सैनिक शक्ति से संसार को दबा कर एक संस्कृति और एक सभ्यता का ही प्रसार करना विनाशकारी है। बीसवीं सदी बर्बरता पर पश्चाताप की सदी कही जा सकती है यद्यपि इतिहास के सबसे बर्बर संहार भी इसी सदी में हुए। इसलिए अपनी संस्कृति के अनुसार जीने के अधिकार को संयुक्त राष्ट्र संघ ने स्वीकृति दी।

इस दिशा में भारत अकेला देश है जिसने अपने सम्पूर्ण इतिहास में इस अधिकार की सहज स्वीकृति राजनीति और समाज में बनाये रखी। यहां के अपने सामाजिक और राजनीतिक संघटनों में अपनी संस्कृति के अनुसार जीने का अधिकार सभी वर्गों को रहा चाहे उनकी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक भूमिका कितनी भी सीमित क्यों न रही हो। विदेशी चाहे यहां शरणार्थी के रूप में आये चाहे आक्रमणकारी के रूप में, अपने रहन सहन के नियमों के अनुसार ही पूरी आज़ादी के साथ रहे। यहां यहूदी और ईसाई हजारों वर्षों से रहे, पारसी धर्म के अनुयायी यहां आये, अनेक खेपों में मध्य एशिया से शक, पह्लव और तुर्क आये, इन सबसे पहले मग आये, सबने अपनी महत्ता बनाये रखी। उनकी सांस्कृतिक पहचान बनी रही। यह केवल एक ऐसी सामाजिक सोच का परिणाम था जिसने अपना अपर (other) कभी स्वीकार ही नहीं किया, विश्व के प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक समुदाय की जीवनशैली को मूल्यवान् माना।

इसी से घनिष्ठता पूर्वक सम्बद्ध एक दूसरा अधिकार है विचार, राय, अभिव्यक्ति, अन्तरात्मा और धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार। इसे एक दूसरी प्रसंविदा में संयुक्त राष्ट्र संघ ने उसी महासभा में पारित किया था (16 दिसम्बर 1966) जिसमें उपरिलिखत "अपनी संस्कृति के अनुसार जीने का अधिकार" स्वीकृत किया गया था। इस अधिकार की स्वीकृति के पीछे भी पश्चिम में अभिव्यक्ति और विचार, अन्तरात्मा और धर्म पर शताब्दियों से चली आयी एक रूपता का शिकंजा था जिसने मध्यकाल में एक

ओर तो गैलीलियो जैसे वैज्ञानिकों को दमन का शिकार बनाया और दूसरी ओर विभिन्न धर्म--विश्वासों तथा उप सम्प्रदायों का उत्पीड़न लम्बे समय तक जारी रखा। इस विषय में भी भारतीय परम्परा में यह आम सहमति रही है कि वैचारिक स्वातंत्र्य पर कभी कोई रोक नहीं लगायी जानी चाहिए। इस कारण यहां नयी वैचारिकताएँ और दर्शन हमेशा जन्म लेते और पनपते रहे हैं। जिन धर्म व्यवहारों का सिद्धान्त और आचार प्रचलित सामाजिक सिद्धान्तों और आचारों से भिन्न रहा है--उदाहरण के लिए तान्त्रिक दर्शन और आचार--पद्धतियाँ--उन पर भी किसी प्रकार के बन्धन नहीं रहे। यहीं इस पर भी ध्यान देना चाहिए कि ऐसी दर्शन--पद्धतियों और आचार--पद्धतियों ने भी कभी यह दावा नहीं किया था कि सम्पूर्ण समाज को ही उनकी दर्शन --पद्धति और आचार--पद्धति के अनुसार आचरण करना चाहिए।

ऐसा इसलिए हो सका था कि सर्वग्रासिता का कोई स्थान भारतीय लोक मानस में नहीं रहा और शास्त्र --चिन्ता भी इससे सर्वथा मुक्त रही और ऐसा इसलिए हो सका था कि शास्त्र--चिन्ता और लोक--मानस एक दूसरे से विनिमेयता और संवाद की स्थिति में बने रहे, अपरिचय के युद्ध में विजेता और विजित नहीं। आवश्यकता केवल इतनी है कि समकालीन वैश्विक परिदृश्य में हम अपनी इस विरासत को समकालीन आवश्यकताओं और समझ से समंजस करें।

लिंग न्याय और मानवाधिकार

• अनिल दत्त मिश्र*
शगुन अग्रवाल**

भारतीय परिवारों तथा समाज में बचपन से ही, लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुष में भेद किया जाता है। शारीरिक हिंसा का लक्ष्य महिलाओं की गतिशीलता को बाधित करना और सामाजिक नियमों की अवज्ञा करने वाली औरतों को दंडित करना है। इस भेदभाव के विरूद्ध महिलाएं लड़ सकें, इसके लिए उन्हें सशक्त बनाया जाना अति आवश्यक है। उपयुक्त कानून न केवल पारित हो बल्कि सख्ती से लागू भी किए जाएं। महिला मुक्ति के बहुत से हिमायती आये परन्तु उनके मानव मूल्यों का हनन अब भी जारी है। लिंग न्याय का अभिप्राय है महिलाओं का निर्णय लेनें वाली सभी प्रक्रियाओं में भाग लेना। बचपन से ही लड़के तथा लड़की के बीच हो रहे भेदभाव को दूर करना होगा तथा इसके लिए स्वयं महिलाओं को ही आगे आना होगा। महिलाओं को दोहरा संकट है। महिला होने के नाते तो उन्हें भेदभावपूर्ण व्यवहार सहना ही पड़ता है साथ ही पुरुषों के समान उनके मानवाधिकारों का भी हनन होता है। संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र में भी लिंग हिंसा का निषेध किया गया है और इस घोषणा पत्र की रक्षा सभी सरकारों की नैतिक जिम्मेदारी है। महिलाओं के अधिकारों की रक्षा घर से ही शुरू की जानी चाहिए।

महिलायें विश्व की आधी जनसंख्या और कुल श्रमिक वर्ग के एक तिहाई हिस्से का प्रतिनिधित्व करती हैं, फिर भी विश्व की कुल आमदनी में मात्र दस प्रतिशत और सम्पत्ति में एक प्रतिशत से भी कम उनके हिस्से में आता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि कुल श्रम घंटों का दो–तिहाई हिस्सा महिलाओं की जिम्मेदारी है। इतना होने पर भी दिन–प्रतिदिन महिलाओं के मानवाधिकारों के हनन की खबर से हमारी अंतरात्मा आहत होती रहती है। लिंग अंतराल निरंतर बढ़ रहा है जिसके परिणामस्वरूप पुरुष और स्त्री जैसे दो अलग–अलग दुनिया, ग्रहों और गैर बराबर मानव समुदाय में बंट गये हैं। आज की तकनीक प्रधान दुनिया में स्त्री का यौन–शोषण, आर्थिक शोषण, बलात्कार, छेड़छाड़ आदि से मुक्त होना आवश्यक है। कामकाज से लेकर जीवनसाथी

* उपनिदेशक, राष्ट्रीय गांधी संग्रहालय, राजघाट, दिल्ली
** वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग, एस.पी.एन महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

तक और बिस्तर से लेकर सत्ता के गलियारों तक, उसके पास चुनाव की और ज्यादा स्वतंत्रता होनी चाहिए।

इस गैर बराबरी के संबंध को बराबरी के स्तर तक लाने और महिलाओं के छुपे हुए आँसुओं को पोंछने का संघर्ष वर्तमान समय की सबसे विकट चुनौती है। आज की सबसे बड़ी जरूरत लिंग न्याय को संभव करने के न तो पहले से ही तैयार समाधान हैं और न उससे जुड़े प्रश्नों के कोई सीधे–सरल उत्तर।

यह पाया गया है कि नवीन आर्थिक नीति (एन ई पी) और संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (एस ए पी) के चलते महिलाओं को न केवल आर्थिक बल्कि राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से भी हाशिए पर रखा जा रहा है। उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्वीकरण की प्राक्रियाओं से लिंग मुद्दों को विशेष रूप से रेखांकित करते हुए भारतीय महिलाओं को एक निर्णायक अवस्था पर ला खड़ा किया है। सांस्कृतिक तथा सामाजिक लोकाचार के अंतर के कारण उसके लिए पश्चिम की महिला का अनुकरण करना संभव नहीं है। एक आदर्श भारतीय महिला की छवि में यद्यपि बहुविध कारणों से गहरा बदलाव आ चुका है तथापि अपने पश्चिमी प्रतिरूप के समान वह अभी नहीं है। उसकी भूमिका और उससे की जाने वाली उम्मीदों में पश्चिम के मुकाबले अभी भी बहुत अंतर है।

कुछ लिहाज से इन नीतियों का महिलाओं पर सकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है, विशेष रूप से भारत में। भारत में जीवन के सभी क्षेत्रों तथा स्तरों पर निर्णय लेने की प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी के स्वरूप में बड़ा ही प्रभावशाली अंतर आया है। इसमें संदेह नहीं कि इस नई आर्थिक व्यवस्था के युग में जिसका लिंग न्याय और मानवाधिकारों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, भारत के लोक हितकारी राज्य में व्यापक स्तर पर बदलाव आ रहा है।

भारतीय परिवारों तथा समाज में बचपन से ही, लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुष के रोजमर्रा के जीवन में जो वैषम्य दिखाई देता है, उससे एक पक्षपात पूर्ण रवैये का जन्म होता है जो स्पष्टतः अन्यायपूर्ण है। अलग–अलग सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों में लिंग संबंधी हिंसा का प्रकटीकरण अलग–अलग रूप में हो सकता है लेकिन महिलाओं पर इसका प्रभाव, प्रबलता और परिणाम एक जैसे ही रहते हैं। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति और प्रकारों को समझने के लिए यह समझना भी जरूरी है कि एक पितृसत्तात्मक समाज में हिंसा एक पोषक तंत्र के रूप में काम करती है। समाज में व्यापक रूप से विद्यमान लिंग हिंसा, महिलाओं की दुरावस्था को स्थायी बनाये रखने का न केवल संकेत है बल्कि साधन भी है। उच्च शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य सेवाओं आदि के अभाव जैसी आसानी से पहचान न आने वाली संरचनात्मक हिंसा के रूप में भी यह प्रकट होती है। ऐसी निराशापूर्ण स्थिति में जबकि

महिलाओं के पास सामान्यतः कोई ताकत नहीं है, प्रत्यक्ष हिंसा दुधारू तलवार का काम करती है। महिलाओं पर नियंत्रण और समाज में उनके दोयम दर्जे को बनाए रखने में यह सहायक होती है। शारीरिक हिंसा का लक्ष्य महिलाओं की गतिशीलता को बाधित करना और सामाजिक नियमों की अवज्ञा करने वाली औरतों को दण्डित करना होता है। प्रायः सभी सार्वजनिक स्थानों पर पुरुष का नियंत्रण होने के कारण महिलाओं के लिए घर से बाहर निकलकर काम करना और अपनी जीविका कमाना बहुत मुश्किल है। महिलायें जब इस चुनौती को स्वीकार करती हैं तो यह उनके प्रतिकूल पड़ती है और यह सभी वर्गों की महिलाओं को प्रभावित करती हैं।

इस भेदभाव के विरुद्ध महिलायें लड़ सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि सभी स्तरों पर निर्णय लेने वाली समितियों में उनकी भागीदारी निश्चित कर उन्हें सशक्त बनाया जाए। रंग, धर्म अथवा समुदाय के सभी भेदों को भुलाकर विश्व भर की महिलाओं द्वारा यही विचार व्यक्त किए जा रहे हैं क्योंकि बराबरी, सामाजिक न्याय और अपने लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए वे अपनी लड़ाई में एकजुट हैं। समाज में लिंग समानता लाने के उद्देश्य से भारत में विभिन्न प्रकार की संस्थाओं और संगठनों के माध्यम से निरंतर नए–नए प्रयोग किए जा रहे हैं। इसमें आश्चर्य नहीं कि आम महिलाओं के लिए आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण, स्वतंत्रता का पर्याय नहीं बन पाये हैं। भारत में महिलाओं का उद्धार एक ज्वलंत समस्या है जो सच्चाई में तभी बदल सकता है जबकि उपयुक्त कानून न केवल पारित हो बल्कि सख्ती से लागू भी किए जायें। महिलाओं की दशा में सुधार लाने और उनके बुनियादी अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए पिछले सालों में बहुत से कानूनों में संशोधन और उन्हें अधिनियमित किया गया है। लेकिन लिंग न्याय के नियमों का बड़ी सफाई से खंडन करने वाले कानून अभी भी मौजूद हैं और उन्हें बदला जाना चाहिए। इस संदर्भ में जो उदाहरण सबसे पहले हमारे दिमाग में आता है वह विभिन्न समुदायों के वैयक्तिक कानूनों का है जिनमें अभी भी किसी न किसी बहाने से अनेक प्रकार के विभेदमूलक प्रबंधों को चलने दिया जा रहा है। लिंग समानता प्राप्त की जा सकती है बशर्ते कि कानून महिलाओं के जीवन की उन विशिष्ट परिस्थितियों को समझे जिनके तहत उसे शिक्षा और आर्थिक स्वतंत्रता से वंचित किया जाता है।

प्राचीन काल से ही महिलायें समस्याओं का सामना कर रही हैं और उनका शोषण सार्वभौम रूप से लगातार हो रहा है और इसका आसान समाधान नजर नहीं आता। महिला मुक्ति के बहुत से हिमायती आये और चले गए लेकिन महिलाओं के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार और मानव मूल्यों का हनन आज भी जारी है।

वस्तुतः लिंग का मुद्दा एक ऐसा बुनियादी मुद्दा है जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से महिलाओं को प्रभावित करता ही है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि कोई भी सामाजिक बुराई जो महिलाओं की कीमत पर प्रचलित हो, कोई भी कानून अथवा

रिवाज जो समाज में महिलाओं की हीन अवस्था को और मजबूत तथा संस्थागत रूप देता हो या फिर कोई भी घटना या घटनाक्रम जो बड़ी संख्या में महिलाओं को प्रभावित करता हो, को लिंग का मुद्दा माना जा सकता है। उन सभी मुद्दों को, जो बड़ी संख्या में महिलाओं को उत्तेजित तथा सक्रिय करते हैं, महिला गुटों का और तदनंतर मीडिया का ध्यान अपनी ओर खींचते हैं, लिंग संबंधी मुद्दे माना जा सकता है। महिलाओं से जुड़े ऐसे असंख्य मुद्दे हैं जो शाश्वत हैं और जो महिलाओं के जीवन, स्वास्थ्य तथा काम से टकराते हैं। लिंग की अवधारणा के विश्लेषण में थोड़ी अस्पष्टता मौजूद है क्योंकि बहुत बार इसे सेक्स के साथ जोड़ दिया जाता है। सेक्स जहाँ जैविक रूप से तय होता है वहीं लिंग विशिष्ट ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों में सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवहार के स्वरूप से निर्णित होता है। सामाजिक दृष्टि से तय लिंग स्वरूप पुरुषों तथा महिलाओं द्वारा निभाई जाने वाली भूमिकाओं पर मूल्य आरोपित कर देते हैं जो लिंग पूर्व ग्रह अथवा पदानुक्रम के रूप में सामने आता है। प्रारंभिक समाजीकरण स्त्री और पुरुष दोनों के लिए उपयुक्त व्यवहार तथा कार्य संबंधी नियम एवं आदर्श प्रस्तुत कर देता है। ज्यादातर समुदायों में समाजीकरण का स्वरूप ऐसा होता है जो स्त्री तथा पुरुष को विभेदी गुण विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करता है। यही कारण है कि जन्म के समय ही बच्चों को एक विशिष्ट लिंग दे दिया जाता है और इस प्रकार लिंग असमानता को स्वीकार करने के लिए उन्हें बाध्य किया जाता है।

हाल के वर्षों में दहेज संबंधी हत्याओं, यौन हिंसा और महिलाओं के शोषण में खतरनाक ढंग से वृद्धि हुई है जो व्यापक स्तर पर सामाजिक टूट–फूट और ध्वंस का सूचक है। मध्यवर्गीय महिलाओं के लिए शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में बढ़ोतरी के अलावा लगभग प्रत्येक क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति और खराब हो रही है। आज भी महिलायें ऐसे रोजगार में लगी मिलती हैं, जहाँ काम कई घंटे करना पड़ता है और पैसा बहुत कम मिलता है साथ ही घर की भी पूरी जिम्मेदारी उन्हें उठानी पड़ती है–ईंधन, पानी लाना, बिना पैसे लिए पारिवारिक उत्पादन इकाइयों में काम करना, बच्चों को पालना और घर के बीमार तथा वृद्ध सदस्यों की देखभाल करना। ये तमाम काम उसे चुपचाप बिना किसी उम्मीद के करने पड़ते हैं।

लिंग न्याय तंत्रवादी लक्ष्य न होकर पूर्ण रूप से राजनीतिक प्रतिबद्धता है। समस्त सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परंपराओं में आधारभूत परिवर्तन लाकर एक लंबी प्रक्रिया के बाद ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए बिल्कुल नई तरह की सोच भी जरूरी है। जिसमें स्त्री और पुरुष को घिसे–पिटे रूप में रखकर उनके चुनाव की संभावनाओं को सीमित न किया जाए। एक ऐसे दर्शन की जरूरत है जो प्रत्येक व्यक्ति को बदलाव के लिए अनिवार्य कारक माने और विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो स्त्री–पुरुष दोनों के लिए चुनाव की संभावनाओं को और

व्यापक करती हो। भारत में स्वास्थ्य सेवाओं तथा शिक्षा तक महिलाओं की पहुँच बहुत सीमित है यही कारण है कि लिंग समानता अभी बहुत दूर है।

लिंग न्याय का अभिप्राय है कि महिलाओं को निर्णय लेने वाली सभी प्रक्रियाओं में तथा जिंदगी की हर राह में पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर चलना होगा तभी समाज और परिवार से जुड़े मुद्दों के न्यायसंगत और व्यावहारिक समाधान ढूँढे जा सकेंगे। बिना किसी जोर जबरदस्ती, भेदभाव और हिंसा के अपने यौन और प्रजननात्मक स्वास्थ्य आदि से जुड़े मसलों पर पूरा नियंत्रण और जिम्मेदारी और स्वतंत्रता के साथ निर्णय ले पाना भी लिंग न्याय का ही हिस्सा है। यौन संबंधों और प्रजनन से जुड़े मुद्दों पर महिलाओं और पुरुषों के बीच बराबरी के संबंधों के लिए, जिसमें व्यक्ति की सत्यनिष्ठा का सम्मान हो, यह आवश्यक है कि पारस्परिक सम्मान, सहमति हो और अपने यौन व्यवहार और उसके परिणामों के लिए दोनों की बराबर की जिम्मेदारी हो।

20वीं सदी में विश्व भर की महिलाओं के जीवन में व्यापक परिवर्तन आया है और 21 वीं सदी महिलाओं की सदी है। जिंदगी के हर क्षेत्र में महिलाओं के बढ़ते और बदलते रवैये, मूल्यों, इच्छाओं, भावनाओं, व्यवहार और उनकी प्रभावशाली भागीदारी को देखा जा सकता है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं में महिलाओं के बढ़ते दबाव तथा हस्तक्षेप के कारण मूलभूत परिवर्तन आ रहे हैं और आशा की किरणें नजर आ रही हैं। निकट भविष्य में एक स्वस्थ, खुशहाल और प्रगतिशील राज्य के निर्माण में यह निश्चित ही सहायक सिद्ध होगा। विश्व के विशालतम जीवंत लोकतंत्र के रूप में भारत लिंग समानता को प्राप्त करने के लिए निरंतर तरह–तरह की संस्थाओं और संगठनों के रूप में प्रयोग कर रहा है। बावजूद इसके लिंग संबंधी भेदभाव प्रायः हर स्तर पर नजर आता है।

बचपन से लड़के और लड़कियों की परवरिश जिस रूप में होती है वह भी सोच का विषय है। भारतीय परिवारों का सच है कि "लड़कों का पालन पोषण सेवा करवाने के लिए होता है और लड़कियों का सेवा करने के लिए। परिवारों में लड़कों की भूमिका राजकुमारों की और लड़कियों की बर्तन माँजने वाली महरी की है"। सच्चाई यह है कि जन्म से पहले और जन्म के बाद महिलाओं को जीवन भर हर क्षेत्र में भेदभाव झेलना पड़ता है। आज इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त सबूत मौजूद हैं कि महिलाओं के साथ भेदभाव किया जाता है और जीने के अधिकार, संसाधनों की प्राप्ति तथा अपने उत्पाद पर नियंत्रण आदि से वंचित रखा जाता है।

महिलाओं की समस्याओं को स्वयं महिलाओं द्वारा ही सुलझाया जाएगा। लिंग न्याय का प्राथमिक लक्ष्य एक बराबरी पर आधारित न्यायपूर्ण लोकतांत्रिक समाज का निर्माण है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए महिलाओं का सशक्तिकरण इच्छित तथा आवश्यक है। यहाँ सशक्तिकरण का अर्थ है कि महिलाओं को गंभीरता से लेना।

उतना ही आवश्यक है पुरुषों का महिलाओं की समस्याओं के प्रति संवेदनशील होना जिससे कि उनके प्रति पुरुषों का रवैया बदल सके।

महिलाओं का वर्ग, धर्म, आर्थिक तथा शैक्षिक स्तर चाहे जैसा भी हो निजीकरण, उदारीकरण तथा वैश्वीकरण का सामूहिक तथा वैयक्तिक दोनों ही दृष्टियों से उनपर प्रतिकूल प्रभाव रहा है। इन सबके कारण "नव–नारी" की एक ऐसी छवि का निर्माण हुआ है जिसके चलते आज की पीढ़ी की महिलाओं की विचार प्रक्रिया में एक खतरनाक संक्रमण पैदा हो गया है। सच्चाई यह है कि इसने सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दायरे में महिलाओं की पूर्व निश्चित भूमिकाओं को और मजबूत कर दिया है। उन्हें मनुष्य के रूप में स्वीकार किया जाए और उनके साथ मानवतापूर्ण व्यवहार हो इसके लिए इस संकुचित दायरे से उनकी मुक्ति अनिवार्य है। वस्तुतः एल पी जी तथा एम ए पी के चलते महिलाएं पहले ही बड़ी भारी कीमत चुका चुकी हैं।

महिलाओं के मानवाधिकारों का हनन तमाम तरीकों से होता है। हाँ, कभी–कभी महिलाओं को भी उसी रूप में दुर्व्यवहार का (जैसे कि राजनीतिक दमन) सामना करना पड़ता है जैसा कि पुरुषों को। पर चूँकि विश्व में पुरुष की छवि ही सर्वप्रधान रही है इसीलिए महिलाओं की पहली समस्या दृश्यमान होने, सामने आने की है। मानवाधिकारों का हनन प्रायः लिंग आधारित होता हैं और ज्यादातर दुर्व्यवहार तथा पक्षपात होता ही इसलिए है कि पीड़ित व्यक्ति महिला है। वे महिलाएं जिनके अधिकारों का हनन लिंग से इतर किन्हीं कारणों से होता है (राजनीतिक कैदियों या फिर उत्पीड़ित समुदाय के सदस्य के रुप में) उन्हें भी लिंग पर आधारित अत्याचार का यौन हिंसा के रूप में सामना करना पड़ता है।

कुछ महिला समुदाय ऐसे हैं जो मानवाधिकारों के हनन की दृष्टि से विशेष रूप से संवेदनशील हैं। उपेक्षित समुदायों से आने वाली महिलाओं को दोहरा खतरा है। महिला होने के नाते तो उन्हें भेदभावपूर्ण व्यवहार का सामना करना ही पड़ता है साथ ही वो पूर्वाग्रह की भी शिकार होती हैं। विश्व भर में, दीवानी तथा फौजदारी न्याय व्यवस्था में महिलाएं पक्षपातपूर्ण रवैये का शिकार होती हैं। कुछ देशों में तो कानून पक्षपातपूर्ण व्यवहार से आगे बढ़कर महिलाओं को उनके द्वारा किए जुर्मों के लिए विशेष प्रकार की क्रूर, अमानवीय तथा अपमानजनक सजाएं देता है।

मानवाधिकारों के हनन से पीड़ित ज्यादातर महिलायें समाज के सबसे गरीब तथा कमजोर समुदायों से आती हैं । संसार के बड़े शहरों में मौजूद बेघर औरतें, आदिवासी महिलायें, अनुसूचित जाति एवम् जनजाति, अल्पसंख्यक समुदायों और अप्रवासी समुदायों की महिलायें आदि जिन्हें अपने यौन पूर्वाभिमुखीकरण के कारण दण्डित किया जाता है।

महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा न कर पाना संसार के सरकारी समुदाय की सबसे बड़ी हार है। आज इस तकनीक प्रधान समाज में शांति, विकास तथा बराबरी पर महिलाओं का अधिकार मुख्य मुद्दा है। राष्ट्रवादी, पार्थक्यवादी गुटों के विकास तथा जातिगत झगड़ों के कारण संसार के सभी प्रदेशों में हिंसा तथा खून खराबा का खतरा पैदा हुआ है। इनके विरोधी सशस्त्र गुटों ने भी अपने लक्ष्य की तलाश में इन्हीं के समान दमन तथा आतंक के तरीके अपनाये। विश्व के लगभग सभी प्रदेशों में इन्होंने महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार किया उन्हें मारा, उनका बलात्कार किया और अपहरण किया।

महिलाओं को दोहरा संकट है। महिला होने के नाते से तो उन्हें भेदभावपूर्ण व्यवहार सहना ही पडता है साथ ही पुरुषों के ही समान उनके मानवाधिकारों का भी हनन होता है। यद्यपि वैधानिक और राजनीतिक स्तर पर महिलाओं को बराबरी पर लाने की कोशिश की गई है फिर भी लिंग आधारित भेदभाव एक अंतरराष्ट्रीय सच्चाई है। 1991 में प्रकाशित 96 राष्ट्रीय संसदों के संसदीय यूनियन सर्वे में यह पाया गया कि उनके 11 प्रतिशत सदस्य ही महिलाएं हैं। निर्णय लेने वाली राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में महिलाओं की संख्या बहुत कम है जबकि मानवाधिकारों के हनन से पीड़ित लोगों में उनका बाहुल्य है।

भेदभाव एक घातक बीमारी है। किसी भी अन्य प्रकार के मानवाधिकार हनन की तुलना में लिंग आधारित भेदभाव तथा हिंसा के कारण रोज मरने वाली महिलाओं और बालिकाओं की संख्या ज्यादा है। संयुक्त राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय बाल आपात निधि (यूनिसेफ) के अनुसार प्रतिवर्ष एक अरब से भी ज्यादा बालिकायें अपने लिंग के कारण महिलाओं को निजी संस्थाओं तथा व्यक्तियों से अनेक प्रकार के हिंसक व्यवहार का खतरा रहता है।

लिंग हिंसा का निषेध करने वाले संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र के अनुसार "सभी मनुष्यों की बराबरी, सुरक्षा, स्वतंत्रता, सत्यनिष्ठा और प्रतिष्ठा संबंधी अधिकार और नियम महिलाओं के लिए भी सार्वभौमिक रूप से लागू होते हैं।" इस घोषणा–पत्र की रक्षा सभी सरकारों की नैतिक जिम्मेदारी है। नागरिकों के बुनियादी मानवाधिकारों का हनन न हो इसके लिए वे अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार समझौते से भी बंधी हुई हैं।

महिलाओं के अधिकार वस्तुतः मानवाधिकार हैं और मानवाधिकार न केवल सार्वभौमिक हैं, वरन अविभाज्य भी हैं। एक अन्यायपूर्ण मुकदमे के बाद यदि किसी महिला को मनमाने ढंग से बंदी बनाया जाता है, सताया, मारा, गायब किया जाता है या जेल में डाला जाता है तो उसके पास अपने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों के इस्तेमाल का कोई रास्ता नहीं बचता। महिलाओं के बुनियादी अधिकारों के प्रति सम्मान के बिना शांति, समानता और विकास के उनके अधिकारों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

विश्व के किसी भी देश में महिलाओं के साथ उतना अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता है जितना कि पुरुषों के साथ। प्रत्येक समाज में महिलाओं को अत्याचार या फिर उनके मानवाधिकारों के हनन का खतरा रहता है फिर चाहे वे किसी भी सामाजिक वर्ग, संस्कृति और जाति से आती हों। एक सभ्य समाज में यदि भेदभाव हो तो महिलाओं के मानवाधिकार के लिए खतरा और बढ़ जाता है। महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव प्रायः देश के कानून में ही नजर आ जाता है। यदि देश का कानून ही महिलाओं को दोयम दर्जे का नागरिक मानेगा तो फिर समाज महिलाओं के मानवाधिकारों के सम्मान के लिए प्रोत्साहन और अवसर कहाँ से प्राप्त करेगा।

अंतरराष्ट्रीय कानून में महिलाओं के मानवाधिकार उसी प्रकार सुरक्षित हैं जैसे सभी व्यक्तियों के। फिर भी इस आधुनिक दुनिया में जिस–जिस तरीके से मानवाधिकारों मृत्यु को प्राप्त होती हैं। प्रतिवर्ष इसी भेदभाव के चलते करोड़ों महिलाओं को शारीरिक दृष्टि से विकृत कर दिया जाता है, मारा और जिंदा जलाया जाता है, कानूनी अधिकारों से वंचित कर एक अनाभिज्ञात लेकिन अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले व्यापार में घरेलू तथा यौन आवश्यकताओं के लिए खरीदा और बेचा जाता है। अपने लिंग के कारण का हनन संभव है वे सब महिलाओं को सहने पड़ते हैं। मूलतः अपने लिंग के कारण ही महिलाओं तथा बालिकाओं को यह सब सहना पड़ता है।

संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकारों के सार्वभौम घोषणा –पत्र के अनुसार "सभी मनुष्य जन्म से ही स्वतंत्र होते हैं और सबकी प्रतिष्ठा और अधिकार समान है।" फिर भी महिलाओं की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और बराबरी के साथ कानून और रीति–रिवाजों द्वारा लगातार समझौते किये जा रहे हैं।

महिलाओं के अधिकारों को मानवाधिकारों के रूप में स्वीकार करना होगा और लिंग आधारित दुर्व्यवहार को मानवाधिकारों का हनन समझना होगा। मानवाधिकारों की रक्षा का प्रयास घर से ही शुरू होना चाहिए। महिलाओं की समस्याओं को सुलझाने का सबसे उपयुक्त तथा एकमात्र तरीका है समाज में महिलाओं की स्थिति को बदलना और सामाजिक व्यवस्था की खुशहाली के लिए उसे भी बराबर की जिम्मेदारी देना। मानवाधिकारों को पूरी तरह लागू करके ही इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि मानवाधिकार ही महिलाओं के अधिकार हैं।

हेनरी किसिंजर के अनुसार–'यदि शांति और समृद्धि मात्र खोखली तकनीकी उपलब्धियाँ नहीं है तो बुनियादी मानवाधिकारों को स्वीकार करना होगा और उनपर गंभीरता से विचार कर उनकी रक्षा करनी होगी। मानवाधिकार एक अर्थवान जीवन का मूल तत्व है और मानव गरिमा को बनाए रखना किसी भी सरकार का अंतिम उद्देश्य है'।

सतर्क तथा सम्मिलित प्रयास के द्वारा मानवाधिकारों की रक्षा में समुदाय विशेष रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। विश्वभर में महिलाओं के मानवाधिकारों की रक्षा के लिए उठाये जाने वाले कदमों में जरूरी है मानवाधिकारों के हनन का दस्तावेज तैयार करना, प्रेस के माध्यम से उसका प्रचार करना ताकि इस अत्याचार को रोकने के लिए सरकार तथा सत्ता वर्ग पर दबाव पड़े।

आज विश्व में मानवाधिकार संबंधी चुनौतियों का सामना करने के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है कि स्त्री के स्वातंत्र्यवादी नजरिए से मानवाधिकारों का रूपांतरण किया जाए। सभी मनुष्यों के मानवाधिकारों की रक्षा जिन स्तरों और जिन मुद्दों को सामने रखकर की जा रही है, महिलाओं के मानवाधिकारों की रक्षा का अभियान भी उसी पर चलना चाहिए।

निष्कर्ष:

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय महिलाओं को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में पूर्ण लिंग न्याय प्राप्त करने के लिए अभी एक लंबा सफर तय करना है। वर्तमान समय की आवश्यकता है विकास न कि कल्याण, अधिकार न कि दान, सशक्तिकरण न कि सहायता, संरचनात्मक बदलाव न कि संरचनात्मक समायोजन, यहाँ तक कि सामाजिक सुरक्षा भी नहीं बल्कि सामाजिक और लिंग न्याय क्योंकि तभी महिलाओं का जीवित रहना और पनपना संभव हो सकेगा।

राष्ट्रीय संगोष्ठी के अकादमिक सत्र के अध्यक्ष प्रो0 बी. वी. पांडेय (बांये से चौथे) साथ में (बांये से) डॉ. बाल कृष्ण सिन्हा, सुश्री स्वरूपमा चतुर्वेदी, श्रीमती लक्ष्मी सिंह, श्री दिनेश कुमार शर्मा, श्री सरोज कुमार शुक्ल, श्री आर. के. शर्मा तथा श्री प्रमोद कुमार चतुर्वेदी।

भारतीय संदर्भ में मानवाधिकारों के सिद्धांत पर पुनर्विचार

• डॉ0 महेन्द्र पाल सिंह

मानव अधिकारों का मूलभूत सिद्धांत व्यक्ति को अपने अधिकारों से रूबरू करना है और इसी को केन्द्र में रखकर मानव अधिकरों की अवधारणा के विकास की परिभाषा निश्चित की जाती है। लेखक ने राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के कई क्षेत्र के संबंध में अपना बेबाक टिप्पणी करते हुए कहा है कि आयोग को अपने कार्यक्षेत्र को केवल मानव अधिकारों के हनन को रोकने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए अपितु उन कारणों की तह तक जाना चाहिए जिनके कारण ये समस्याएँ पैदा होती हैं।

आज समाज में बदलाव बहुत तेजी से हो रहे हैं और इन परिवर्तनों के कारण बहुत सारी सामाजिक विसंगतियाँ भी पैदा हो रही हैं। इसलिए आयोग को चाहिए कि वह एक ऐसी ऊर्जामय प्रणाली का विकास करे जो व्यक्ति को राष्ट्रीय भावना से ओत–प्रोत कर सके। महात्मा गांधी को सबसे सच्चा मानवतावादी बताते हुए कहा है कि यदि महात्मा गांधी के कथन "सभी सुपात्र और सुरक्षित अधिकार भली–भांति कर्तव्य पालन से उत्पन्न होते हैं।" पर ध्यान दिया गया होता तो आज हमें यह दिन देखने को नहीं मिलता।

मानव अधिकारों की अवधारणा में पश्चिम की यह धारणा बलवती दिखती है कि " राजकीय बंधनों से अधिकतम युक्ति ही विकास की सर्वश्रेष्ठ गारंटी है। इसी कारण मानव अधिकारों की पूरी बुनियाद इसी के इर्द गिर्द घूमती रहती है। अंत में लेखक ने भारत जैसे विविधतावादी देश के लिए एक ऐसे मार्ग को खोजने की कोशिश की है जो सब के लिए उपयोगी, अनुकरणीय तथा अनुगमनीय है। लेकिन साथ ही में उन्होंने यह भी कहा है कि हमें इसमें प्राचीन परंपरा का शहद अवश्य मिलाना चाहिए।

विधि और मुख्य रूप से संवैधानिक विधि का विद्यार्थी होने के नाते कुछ समय पूर्व सन् 2001 में मैंने अपने एक लेख में अपने देश में मानवाधिकारों की दशा और उस दशा

• डीन एवं विभागाध्यक्ष, विधि संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

को सुधारने के अनेक प्रयत्नों पर विचार करते हुए, संविधान में दिए हुए मूलभूत अधिकारों तथा राज्य के नीतिनिदेशक तत्वों का अवलोकन किया था। उस लेख में मैंने कहा था कि संविधान निर्माताओं के अनुसार न केवल राज्य के नीति निदेशक तत्व उतने ही महत्वपूर्ण थे जितने कि मूलभूत अधिकार, बल्कि भारतीय परिस्थितियों में मूलभूत अधिकार राज्य के नीति निदेशक तत्वों पर अमल करने में ही फलीभूत हो सकते हैं। क्योंकि संविधान निर्माताओं के अनुसार इन तत्वों पर अमल कराने के लिए न्यायालय उपयुक्त साधन नहीं थे, अतः उनकी धारणा थी कि राज्य ऐसे विकल्पों की रचना करेगा जो उन तत्वों पर अमल करा सकें। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग उसी प्रकार का संभवतः सर्वश्रेष्ठ विकल्प है। परन्तु मैंने अनुभव किया कि आयोग भी लगभग उसी तरह के कार्य में व्यस्त हो गया था जिसमें हमारे न्यायालय एवं मानवाधिकार अराजपीय संस्थाएं और बुद्धिजीवी व्यस्त हैं। अर्थात् वे अपनी सारस्त शक्ति, समय एवं साधन केवल मूलाधिकारों के शासन द्वारा दिन प्रतिदिन के हनन पर केन्द्रित किए हुए हैं और उन कारणों की ओर ध्यान नहीं दे पा रहे हैं जो उस हनन के मूल में निहित हैं। इसका मुख्य कारण है कि मानवाधिकारों के प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार राज्य और उसके अधिकारियों को मानवाधिकारों के हनन करने से केवल रोका जा सकता है परन्तु उन्हें मानवाधिकारों की रक्षा करने अथवा उनके कार्यान्वयन के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। मेरे अनुसार इस प्रकार की धारणा हमारे संविधान के अनुकूल नहीं है। हमारा संविधान न केवल राज्य को मानवाधिकारों के हनन से रोकता है बल्कि उनकी उपलब्धि के लिए बाध्य भी करता है। अतः राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग अपना कार्यक्षेत्र राज्य अथवा उसके अधिकारियों द्वारा मानवाधिकारों के हनन को रोकने अथवा प्रतिकार दिलाने तक सीमित न रख कर उन कारणों की तह में जाए जिनके कारण यह हनन होता है तथा राज्य को ऐसी योजनाएं बना कर दे तथा उसके अनुपालन के लिए बाध्य करे जो उन कारणों को समाप्त कर सके।

कुछ समय बाद सन् 2002–2003 में मुझे अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर बर्लिन उच्च शिक्षा संस्थान में काम करने का अवसर मिला। उसी दौरान मानवाधिकारों पर अन्य साहित्य के अतिरिक्त प्रोफेसर रजनी कोठारी का एक लेख पढ़ने को मिला जिसमें उन्होंने मानवाधिकारों के कार्यान्वयन में लगे हुए व्यक्तियों और संस्थाओं को सुझाव दिया कि वे भारत के लिए मानवाधिकारों का एक उपयुक्त सिद्धांत ढूंढें क्योंकि वर्तमान सिद्धांत जो कि भिन्न परिस्थितियों में पाश्चात्य देशों में प्रतिपादित किया गया था वह भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। प्रोफेसर कोठारी के इस सुझाव से बल पाकर मैंने इस विषय पर भारतीय इतिहास, समाज, संस्कृति और परम्परा पर कुछ और शोध और विचार किया जिसके आधार पर मेरा जो मत बना वह मैं यहां अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा हूं।

यद्यपि तीव्र गति से सार्वभौमिक समाज की ओर बढ़ते हुए आज के युग में सामाजिक समानताओं के बजाय सामाजिक विषमताओं की ओर ध्यानाकर्षित कराना संकीर्ण राष्ट्रवाद अथवा प्रांतीयता का प्रतीक माना जायेगा, परन्तु यह सच है कि भूत और वर्तमान के सभी विचार और सिद्धांत मनुष्य के मस्तिष्क की देन है और उनका उद्भव और विकास विभिन्न समय और स्थानों पर मानवीय आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए हुआ है। तकनीकी विकास की सहायता से निरंतर बढ़ते हुए पारस्परिक सामाजिक आदान–प्रदान ने समय और स्थान की सीमाएं तोड़ कर मानवीय विश्व को विस्तृत कर दिया है तथा एक स्थान और समय पर उत्पन्न विचारों और सिद्धांतों को विश्व भर में फैला दिया है। संभव है कि इनमें से कई विचार और सिद्धांत सभी समाज, समय और स्थानों पर समान रूप से लागू और सफल हुए हों और सार्वभौमिक बन गए हों। ऐसी सार्वभौमिकता प्राकृतिक विज्ञान और तकनीकी के सिद्धांतों के बारे में तो अवसर संभव है, परन्तु सामाजिक विज्ञान के सिद्धांतों के बारे में सर्वदा संभव नहीं है। एक परिस्थिति विशेष में प्राकृतिक और भौतिक घटनाएं तो विश्व भर में समान रूप से घट सकती हैं, परन्तु मानवीय स्वभाव व्यक्ति, समाज, समय और स्थान के अनुसार बदलता रहता है। इसके उपरान्त भी मानवीय जीवन में सफल व्यक्तियों अथवा समाजों का अनुसरण करने का नियम बन गया है। पुनर्जागरण (रिनैसैन्स), सुधारान्दोलन (रेफॅमेशन) तथा औद्योगिक क्रांति ने पाश्चात्य समाज को ऐसी बढ़त दी कि न केवल उसने शेष समाज पर सैनिक विजय पाई और उसका अपना उपनिवेश बनाया बल्कि पाश्चात्य समाज यह भी मानने लगा कि जिन विचारों और सिद्धांतों से उसका रूपांतर हुआ है उससे वह शेष समाज का भी रूपांतर कर सकेंगे।

यही कारण रहा होगा कि मानवाधिकारों की सार्वभौमिक उद्घोषणा (यूनिवर्सल डिकलेरेशन ऑफ हयूमन राइट्स) तैयार करते समय महात्मा गांधी के इस सुझाव पर कि "सभी सुपात्र और सुरक्षित अधिकार भली–भांति कर्तव्य पालन से उत्पन्न होते हैं" पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। अक्सर यह भी कहा जाता है कि मानवाधिकार यहूदी–ईसाई पांथिक परम्परा की एकमात्र देन है जिनके बारे में इस परम्परा से भिन्न अथवा अन्य समाज पूर्णतया अनजान है। विशेष रूप से एशिया के समाज के बारे में जिसमें भारत भी सम्मिलित हैं, कहा जाता है कि यहां पर अधिकारों के बजाय कर्तव्यों की परंपरा है। अतः मानवाधिकारों के बारे में पश्चिम का अनुसरण करने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। यह मान्यता मानवाधिकारों के सिद्धांत तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उनके कार्यान्वयन के लिए उनकी विषय–वस्तु, प्रणाली और आवश्यक संस्थान भी पश्चिमी मानदंड ही निर्धारित करेंगे। इन मानदंडों की अवहेलना अक्सर अंतरराष्ट्रीय विधि का उल्लंघन माना जाता है जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ आवश्यक कदम उठा सकता है।

अपितु जैसे–जैसे शेष समाज उपनिवेशवाद और पाश्चात्य प्रभाव से उबर रहा है तैसे–तैसे गांधी जैसी आवाजों को बल मिल रहा है, जो मानवाधिकारों के नैतिक मूल्यों तथा उनके मानवीय गरिमा के रक्षक होने पर कोई शक नहीं करती हैं, परंतु उनकी विषय–वस्तु की सार्वभौमिकता और उनके कार्यान्वयन के तरीकों और साधनों पर अवश्य सवाल उठाती है। इन आवाजों का एशिया, विशेष रूप से पूर्वी और दक्षिण–पूर्वी एशिया में प्राधान्य है। यह आवाज 1993 की बैंकाक उद्घोषणा में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की वियना कॉनफ्रेंस में उठाई गई। यद्यपि सहजतौर पर इस आवाजों का आधार इन समाजों का पश्चिम से ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भिन्नता बताया जाता है, परन्तु गहराई में उनका आधार है सामाजिक परिकल्पना की भिन्नता जिसके पीछे इतिहास का हाथ है। साधारणतया पश्चिम एक ऐसे समाज की परिकल्पना करता है जिसमें राज्य का कार्य केवल आन्तरिक शान्ति तथा बाह्य आक्रमणों से रक्षा करना तथा व्यक्ति को अपने संसक्त कार्यकलाप अपने हिसाब से व्यवस्थित करने की स्वतंत्रता प्रदान करना है। समाज की इस परिकल्पना में राज्य के कार्य कलापों में कोई भी वृद्धि व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करती है और इसलिए उसकी गरिमा की विरोधी है। उस सीमित क्षेत्र में जो राज्य के कार्यकलापों में आता है, राज्य को व्यक्ति की गरिमा के अनुकूल ही कार्य करना है। स्पष्ट ऐतिहासिक कारणों से, जिनमें उपनिवेशवाद प्रमुख है, शेष अथवा अन्यत्र समाज में विद्यमान व्यवस्था व्यक्ति के लिए इतनी असमान और अन्यायपूर्ण है कि यदि वह समाज पश्चिम की परिकल्पना को अपनाता है तो वह मात्र विद्यमान अन्याय और व्यक्ति के अनादर को, जिससे समाज का बहुत बड़ा हिस्सा ग्रसित है, स्थायित्व प्रदान करेगा। यदि मानवाधिकार मानवीय गरिमा के प्रवर्तक और रक्षक हैं तो समाज की इस परिकल्पना के अनुसार वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बदलना आवश्यक है।

समाज और तदनुसार मानवाधिकारों की यह दो परिकल्पनाएं पश्चिम और अन्यत्र समाज के भिन्न अनुभवों से बनी हैं। रोमन कालीन राज्य की निर्बाध शक्ति और उसके दुरुपयोग, तदुपरांत पिछली सहस्राब्दि के पूर्वार्द्ध में सम्राट के स्थान पर चर्च द्वारा शक्ति का दुरुपयोग तथा उसके उपरान्त चर्च से सांसारिक मामलों में समस्त शक्ति लेकर राज्य का उस पर एकाधिकार स्थापित करना, औद्योगिक क्रांति और वैज्ञानिक प्रगति ने पश्चिम को सिखाया कि किसी भी संस्था में शक्ति का केन्द्रीकरण मानवीय गरिमा का शत्रु है। राज्य शासन में इस प्रकार का केन्द्रीकरण और उसका दुरुपयोग उसकी 17वीं–18वीं सदी में नवीनतम उदाहरण और प्रमाण थे। अतः निष्कर्ष निकाला गया कि शासन और समाज को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाए कि शक्ति का अधिकतम विकेन्द्रीकरण करके प्रत्येक संस्था में न्यूनतम आवश्यक शक्ति निहित रहे। प्रत्येक व्यक्ति में जन्म प्रदत्त मौलिक अधिकारों के निवास का आविष्कार तथा व्यक्ति की समाज की निर्णायक प्रक्रिया में भागीदारी इसी निष्कर्ष का परिणाम है। इन परिवर्धनों के फलस्वरूप व्यक्ति पर राज्य का नियंत्रण कम हुआ और उसे स्वेच्छा एवं

स्वतंत्रता पूर्वक उद्यम करने का अवसर मिला। जिसके परिणाम स्वरूप उसने संसार भर के प्राकृतिक और मानव साधनों का असीमित शोषण किया। इन परिवर्धनों ने पश्चिम की यह धारणा पुष्ट कर दी कि राजकीय बंधनों से अधिकतम मुक्ति ही उन्नति की सर्वश्रेष्ठ गारंटी है। मानवाधिकार इसी मुक्ति के साधन बने। यद्यपि मानवाधिकारों की प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा की रक्षा करने की उद्घोषणा कभी भी पश्चिमी समाज की असलियत में नहीं बदल पाई है, परन्तु जो लोग इससे लाभान्वित हुए हैं उनका समाज में बोल बाला रहा है और उन्होंने समाज की इस परिकल्पना को कल्याणकारी एवं समाजवादी राज्य की स्थापना के बावजूद इसके आधार को नहीं खिसकने दिया। समाजवाद ने अवश्य एक भिन्न समाज की परिकल्पना की तथा अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के रूप में अपना स्थान बनाया। परन्तु पाश्चात्य परिकल्पना के कट्टरपंथी आज भी यह नहीं मानते हैं कि मानवाधिकारों का आधार कभी भी व्यक्ति का राज्य से नैतिक लाभ उठाने का दावा हो सकता है, क्योंकि इस प्रकार के दावे को स्वीकारने के लिए राज्य की शक्तियों को बढ़ाना होता है। पिछली सदी के अंतिम दशक में समाजवाद के ढह जाने से समाज की पाश्चात्य परिकल्पना को पुनः बल मिल गया है।

एशिया व अफ्रीका के समाज का अनुभव पाश्चात्य से भिन्न रहा है। भारत तक सीमित रहते हुए मैं कहना चाहूंगा कि भारत में न तो कभी रोम जैसा निर्बाध साम्राज्य था, न कोई चर्च जैसी पांथिक संस्था थी, न कभी पंथ और राज्य का सांसारिक मामलों में निर्बाध एकाधिकार मिला। भारतीय इतिहास में किसी भी राजनैतिक अथवा धार्मिक संस्था ने कभी भी निर्बाध शक्ति का दावा अथवा प्रयोग नहीं किया। इस प्रकार के दावे का कोई सैद्धांतिक अथवा व्यवहारिक आधार नहीं था तथा उसके किसी भी प्रकार के प्रयोग का जनता ने सैद्धांतिक विरोध किया। भारत प्राचीन समय से दुनिया के अनेक आप्रवासियों का घर बना जहां यह आप्रवासी आपस में घुल मिल सकें तथा राज्य के संरक्षण में रह कर अपनी भाषा, धर्म, रीति रिवाज, कानून आदि का अनुसरण करते हुए अपनी पहचान बनाए रहे। राज्य ने कभी भी उन पर ऐसे कानून, धर्म, भाषा, सिद्धांत अथवा व्यवहार थोपने का प्रयत्न नहीं किया जो उनकी पहचान से मेल न खाते हों। 19 वीं सदी में भारत में बर्तानिया साम्राज्य की स्थापना होने तक राज्य ने कभी भी सांसारिक अथवा अन्य मामलों में एकाधिकारिक शक्ति का दावा अथवा प्रयोग नहीं किया। इसे भारतीय समाज और राज्य के अविकसित अथवा अल्पविकसित होने का लक्षण भी कहा जा सकता है। जो भी कहें, ऐतिहासिक सत्य यह है कि बर्तानिया साम्राज्य के अल्पकालीन अनुभव के अतिरिक्त भारत ने अपने लम्बे इतिहास में कभी भी निर्बाध राज्य का वैसा अनुभव नहीं किया जैसा कि समस्त पाश्चात्य ने किया।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि भारतवासी अपने इतिहास में कभी अनादर और मानवाधिकारों की अवहेलना और हनन के शिकार नहीं हुए। भूतकाल

में हुए अनादर और मानवाधिकारों के हनन के अलावा आज भी भारतीय जनता का बहुत बड़ा हिस्सा उस प्रकार के हनन से पीड़ित है। परन्तु इस पीड़ा का कारण राज्य के कृत्य नहीं, बल्कि राज्य की अकर्मण्यता है।

अतः मानवाधिकारों के वर्तमान सिद्धांत के स्थान पर जो पश्चिम ने राज्य की अति के विरुद्ध प्रतिपादित किया, भारत को मानवाधिकारों के ऐसे सिद्धांत की आवश्यकता है जो राज्य को बाध्य कर सके समाज के वर्तमान अनौचित्य और अन्याय तथा उनके कारणों को समाप्त करने के लिए। प्रत्येक व्यक्ति को इन अन्यायों और अनौचित्यों से मुक्ति पाने का उतना ही जन्मसिद्ध अधिकार है जितना कि एक शिशु को जीने, खाने और पोषण का। जैसे माता पिता भावुकता, नैतिकता और विधान से शिशु के लिए वह सब करने को बाध्य हैं कि वह हर प्रकार से संसार में रहने योग्य बन सके वैसे ही राज्य भी अपने नागरिकों की देखरेख के लिए बाध्य होना चाहिए। क्योंकि राज्य ने अपने नागरिकों की उचित देखरेख नहीं की इसलिए वह अपमान और तिरस्कार से ग्रसित है। राज्य की इस दीर्घ समय तक निरंतर लापरवाही ने उन्हें निर्धन और निरीह बना कर अपमान और तिरस्कार का पात्र बना दिया है। इन लोगों को उसी प्रकार सामर्थ्य की आवश्यकता है जैसे शिशु को पोषक आहार की। राज्य बाध्य है उनको समर्थ बनाने के लिए। जब तक वह समर्थ नहीं होंगे तब तक उनके मानवाधिकारों का हनन होता रहेगा। भारत में मानवाधिकारों की असलियत तब तक नहीं बदलेगी जब तक हमारी दृष्टि राज्य और उसके अधिकारियों द्वारा मानवाधिकारों के हनन तक ही सीमित है। राज्य और उसके अधिकारियों के कृत्यों से होने वाला मानवाधिकारों का हनन उस हनन के सामने नगण्य है जो राज्य की अकर्मण्यता के कारण होता है। इसके अतिरिक्त राज्य और उसके अधिकारी भी मानवाधिकारों का हनन इसलिए कर पाते हैं कि राज्य लोगों की विभिन्न प्रचार की असमर्थता को समाप्त करने में असफल रहा है। अतः भारत के सभी मानवाधिकार संगठनों, समूहों और व्यक्तियों को मानवाधिकारों के उस सिद्धांत पर पुनर्विचार करना चाहिए जिसके अनुसार मानवाधिकारों का हनन तभी होता है जब राज्य मानव गरिमा के विरुद्ध कुछ करता है। उन्हें आवश्यकता है यह समझने की और मानने की कि भारत में मानवाधिकारों का हनन मुख्यतौर पर राज्य की अकर्मण्यता के कारण होता है।

मैंने जिस उपरोक्त सिद्धांत के प्रतिपादन का प्रयत्न किया है उसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे देश में पैतृक राज्य स्थापित कर दिया जाए जिसमें व्यक्ति अपनी पहल शक्ति और उद्यमता को छोड़कर पूर्णतया राज्य पर निर्भर हो जाए। इस सिद्धांत के अनुसार दीर्घकालीन वर्तमान सामाजिक अनौचित्य और अन्याय को समाप्त करके प्रत्येक व्यक्ति को इस स्थिति में पहुंचा दिया जाय कि वह आज के सघन प्रतियोगी समाज में अपने बारे में निर्णय लेने की स्थिति में हो सके। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य को ऐसा कल्याणकारी राज्य होना भी आवश्यक नहीं है कि वह सबकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की जिम्मदारी ले। परन्तु राज्य ऐसी स्थिति पैदा करने के लिए अवश्य बाध्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में पहल करने की स्थिति में हो। इस सिद्धांत को साकार कराना ऐसा आसान नहीं है जैसा कि कहना इसकी साकारता के उदाहरण भी शायद कहीं न मिल पाएं। परन्तु मैंने अपने अल्पकालीन प्रवास में सही या गलत अनुभव किया है कि सिंगापुर और हांगकांग जैसे कुछ छोटे समाज कुछ हद तक इस प्रकार के उदाहरण पैदा करने में सफल हुए हैं। यद्यपि मानवाधिकारों के पश्चिमी मानदंडों के अनुसार इन समाजों की खिल्ली उड़ाई जाती है, परन्तु निःसन्देह इन समाजों ने एशिया के समाज के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति के नग्न निरादर और तिरस्कार को समाप्त करके उसको ऐसी स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है कि वह आगे बढ़ने की सोच और आशा कर सकता है। यह उदाहरण भारत जैसे बड़े और जटिल समाज के लिए उपयोगी अथवा अनुकरणीय न हों, परन्तु यह हमें अपने उस प्राचीन विवेक की अवश्य याद दिलाते हैं जिसके अनुसार हमारे उद्धार के एक से अधिक मार्ग हो सकते हैं। आओ हम सब मिलकर संकल्प ल उन्हीं मार्गों की खोज करें।

संगोष्ठी के समापन सत्र में आयोग के माननीय अध्यक्ष न्यायमूर्ति डॉ. ए. एस. आनंद का पुष्प–गुच्छ से स्वागत करते हुए सहायक निदेशक श्री सरोज कुमार शुक्ल

मानव अधिकारों के प्रति शैक्षिक दायित्व एवं स्कूली शिक्षा की अपेक्षाएं एवं चुनौतियाँ

• लक्ष्मी सिंह

शिक्षा ही वह माध्यम है जो व्यक्ति को सम्मानजनक, भयमुक्त जीवन जीने का बोध कराता है। उसे उसके अधिकारों से परिचित कराता है। शिक्षा का अर्थ मात्र कुछ तथ्यों को ही रटाना नहीं है बल्कि शिक्षा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करती है। नेताजी सुभाष चन्द्र बोस का भी कहना था कि जब तक हम शिक्षा को आत्मसात नहीं कर लेंगे तब तक हम अपने चरित्र का निर्माण नहीं कर सकते। मानवता रहित शिक्षा अपूर्ण है। शिक्षा, विशेषकर स्कूली शिक्षा की कई अपेक्षाएं एवं गंभीर चुनौतियाँ हैं। स्कूली शिक्षा विद्यार्थियों को अच्छा, जागरूक, शिक्षित नागरिक बनाएं जिन्हें मानव अधिकारों का पूरा ज्ञान हो तथा जो इस ज्ञान के प्रकाशा में अपने कर्तव्यों का पूरी जिम्मेदारी के साथ निर्वाह करें। भारत के संविधान में भी प्रारम्भिक शिक्षा एक मौलिक अधिकार है परन्तु 'सर्व शिक्षा अभियान' सरकार की भागीदारी के बगैर सफल नहीं हो सकता। शहीद भगत सिंह ने लिखा था, "विद्यार्थियों का मुख्य काम पढ़ाई करना है, लेकिन देश की परिस्थितियों का ज्ञान तथा उनके सुधार के उपाय सोचना भी उसी शिक्षा का ही अंग है।"

आज हम "भारत में मानव अधिकार शिक्षा का महत्व" सम्बन्धी विषय की चर्चा विभिन्न दृष्टिकोण से करेंगे। इसका एक महत्वपूर्ण पहलू है मानव अधिकारों के प्रति शैक्षिक दायित्व एवं स्कूली शिक्षा की अपेक्षाएँ एवं चुनौतियाँ जिस पर हम विस्तार से बात करेंगे।

लाला लाजपत राय ने कहा था, "किसी देश की आर्थिक समृद्धि की सबसे आसान, सबसे अच्छी और सबसे अधिक प्रभावशाली कसौटी यह है कि इसके लोगों के जीवन को देखा जाय – वे कैसा खाते हैं, कैसे वस्त्र पहनते हैं, किस तरह जीवन–यापन करते हैं और कितने शिक्षित हैं? ये चार आधारभूत परीक्षण हैं जिनके द्वारा आप किसी देश की समृद्धि का पता लगा सकते हैं। यह किसी राष्ट्र की नैतिक तथा भौतिक प्रगति की अचूक कसौटी है। लोगों के मृत्यु दर में क्रमिक ह्रास और जनता को

• पूर्व मुख्य सचिव, झारखंड ; सम्प्रति अध्यक्ष, झारखंड राज्य महिला आयोग

शिक्षा की सुविधाएँ, ये ही वे कसौटियाँ हैं, जिन पर किसी सरकार की कुशलता परखी जाती है।" यानि, किसी भी देश को तब तक विकसित नहीं कहा जाएगा जब तक उसके नागरिक अशिक्षित हैं। यह तो हम सभी लोग मानते हैं।

किन्तु शिक्षा, विशेषकर स्कूली शिक्षा, कैसी होनी चाहिए? नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने 31 अक्तूबर 1938 को शिलॉंग में दिए गए अपने भाषण में कहा था, "क्या शिक्षा हम लोगों के चरित्र गठन में मदद करती है? शिक्षा का उद्देश्य क्या है? शिक्षा का लक्ष्य है – उन्नत पुरुष और नारी बनाना ताकि हम लोग अपनी ज़िन्दगी देश सेवा और अन्ततोगत्वा मानवता की सेवा के लिए समर्पित कर सकें।" शिक्षा से हमेशा अपेक्षा की गई है कि समूचे व्यक्तित्व का विकास हो, चरित्र निर्माण हो, तथा शिक्षा के माध्यम से सामाजिक ज़िम्मेवारी की भावना उत्पन्न हो।

जब से 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानव अधिकारों पर सार्वभौम घोषणा हुई है, तब से भारत एवं उस पर हस्ताक्षर करने वाले अन्य देशों ने यह माना कि सभी व्यक्ति जन्मजात स्वाधीन एवं समान हैं, तथा बिना भेद–भाव के सभी मौलिक अधिकारों एवं आज़ादी के हक़दार हैं। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वाधीनता एवं सुरक्षा का अधिकार है। किसी को दास नहीं बनाना चाहिए और न ही किसी को यातना, क्रूर, अमानवीय, अपमानजनक व्यवहार या सजा का पात्र बनाना चाहिए। प्रत्येक को अधिकार है कि कानून के समक्ष उसे एक व्यक्ति माना जाए। इस घोषणा ने इस बात का समर्थन किया कि कानून के सामने सभी लोग समान हैं तथा किसी भी प्रकार के भेद–भाव से सुरक्षा के हक़दार हैं। अन्तरराष्ट्रीय/राष्ट्रीय कानून के तहत मानव अधिकारों का दायित्व निभाना इन देशों की बाध्यता मानी गई।

भारत ने मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 को पारित किया जिसके क्रम में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग एवं कई राज्यों में राज्य मानव अधिकार आयोग की स्थापना की गई है। विश्व के अनेक देशों में राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकार आयोग गठित हैं तथा संयुक्त राष्ट्र संघ का मानव अधिकार आयुक्त भी विराजमान है। इन सभी के साथ भारत का आयोग सम्पर्क में रहता है तथा विचारों का आदान–प्रदान होता है। फलस्वरूप, विश्व भर में मानव अधिकार एक प्रमुख विषय बनकर उभरा है जिस पर विभिन्न विश्वविद्यालयों में शैक्षिक सत्र चलाए जा रहे हैं एवं उसमें उत्तीर्ण होने पर डिग्री भी दी जा रही है। मानव अधिकार शोध का विषय भी बन चुका है। कई देशों द्वारा इसके पठन–पाठन हेतु छात्रवृत्ति भी दी जा रही है। कहने का तात्पर्य हुआ कि सारा विश्व मानव अधिकारों के महत्व को मानने लगा है, मानव अधिकारों की जानकारी को अहम् स्थान देने लगा है, एवं चाहता यह है कि सभी लोग मानव अधिकारों से परिचित हों।

मानव अधिकार का विश्लेषण मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 में दिया गया है। उसके मुताबिक, मानव अधिकार का अर्थ वह अधिकार है जो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन, स्वाधीनता, समानता एवं सम्मान से सम्बन्धित हो, जिसकी गारंटी/आश्वासन भारत के संविधान तथा अन्तरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं में हो तथा जिन्हें भारत के न्यायालय लागू कर सकें। भारत के संविधान में मौलिक अधिकारों, जो कि मानव अधिकार हैं, पर एक भाग (भाग III) समर्पित है।

मानव अधिकारों के प्रति शैक्षिक दायित्व बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि शिक्षा के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को बोध कराया जा सकता है कि वह एक व्यक्ति है, एक इन्सान है जिसे सम्मानजनक, भय–मुक्त जीवन जीने का पूरा अधिकार है। उसे जीवन के हर पायदान पर यह शिक्षा देनी होगी कि वह देश का एक जिम्मेवार नागरिक है जिससे देश की अनेक अपेक्षाएँ है। अतः, जीवन की शुरुआत से हो जब बच्चा स्कूल जाने लगे, तो उसे अन्य विषयों के साथ मानव अधिकारों का ज्ञान भी मिलना चाहिए। उसे यह बताना होगा कि कोई भी विषय मानव अधिकारों से अलग नहीं है। अगर विद्यार्थी भूगोल पढ़ रहा हो, तो उसे पर्यावरण की रक्षा और इसके साथ ही स्वच्छ वातावरण में जीने के उसके मानव अधिकार का ज्ञान दिलाना होगा। अगर वह इतिहास पढ़ रहा हो, तो प्रत्येक युग में मानव अधिकारों की क्या स्थिति थी यह पढ़ाना होगा। उसे जानकारी मिलनी चाहिए कि किस प्रकार देशों में मानव अधिकारों का हनन हुआ था एवं उसकी क्या परिणति हुई। उदाहरण स्वरूप, अब्राहम लिंकन ने अमेरिका में क्यों और कैसे दास प्रथा को समाप्त कर दासों को स्वाधीन व्यक्ति की पहचान दी, फ्रांस में गरीब एवं भूखे लोगों ने अपने अधिकारों के लिए राजा के विरुद्ध क्रान्ति की और राजतंत्र को हटाया, बीसवीं शताब्दी में रूस में सर्वहारा क्रान्ति ने कैसे राजतंत्र को मिटाया तथा शोषित वर्गों को उनका हक दिलाया, भारत में राजा राम मोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, महात्मा गांधी तथा अन्य महापुरुषों ने सती प्रथा मिटाने, अस्पृश्यता समाप्त करने एवं शिक्षा को सार्वजनिक करने का बीड़ा क्यों उठाया, इत्यादि। उदाहरण बहुत हैं तथा सभी मानव अधिकारों से जुड़े हुए हैं।

अगर विद्यार्थी विज्ञान पढ़ रहा हो, तो वैज्ञानिक आविष्कारों के लाभदायक एवं हानिकारक प्रयोगों की जानकारी भी मिलनी चाहिए। द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त में ऐटम बम से हिरोशिमा एवं नागासाकी के सर्वनाश की जानकारी भी प्राप्त होनी चाहिए। अगर जीव विज्ञान पढ़ रहा हो, तो उक्त विषय के साथ जीवों के प्रति दया, उनकी जरुरतें, उनकी उपयोगिता भी सिखाई जाए। जैसे, केंचुआ की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि वह कूड़े–कचरे को खाद बनाता है, चूहों को जहर से नहीं मारना चाहिए क्योंकि पक्षी उन्हें खाकर मर भी सकते हैं, इत्यादि। ये सारी बातें पर्यावरण से जुड़ी हुई हैं जिसका सुरक्षित होना प्रत्येक व्यक्ति का मानव अधिकार है तथा जिसे सुरक्षित रखना सभी का कर्तव्य है।

शिक्षा का अर्थ मात्र कुछ तथ्यों को विद्यार्थी के सामने परोसना नहीं है। शिक्षा से सर्वांगीण विकास की अपेक्षा है और वह विकास विद्यार्थियों को मानव अधिकारों के प्रति सजग रहने से ही होगा क्योंकि उनका वर्तमान एवं भविष्य मानव अधिकारों के संरक्षण पर निर्भर है। विद्यार्थियों को सर्व प्रथम यह सीख मिलनी चाहिए कि उन्हें सम्मानजनक ज़िन्दगी जीने का अधिकार है जिसे शिक्षा का वाणिज्यीकरण अथवा कुछ निर्दय शिक्षकगण छीन नहीं सकते। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "जब तक करोड़ों मनुष्य भूख और अज्ञानता में जीवन बिता रहे हैं तब तक मैं, प्रत्येक मनुष्य को, जो उनके व्यय से शिक्षित हुआ है और उनकी दशा की ओर ध्यान नहीं देता, देशद्रोही मानता हूँ।" कहने का अर्थ हुआ कि लोगों को शिक्षा प्राप्त करते वक्त सामाजिक जिम्मेवारी भी उठानी होगी ताकि मानव अधिकारों की रक्षा हो। देश में जब तक एक भी इन्सान भूखा एवं अशिक्षित रहेगा तब तक यह समझा जाएगा कि मानव अधिकारों की रक्षा नहीं हुई।

नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने कहा है, "अध्ययन का मतलब है किताबों को पढ़ना एवं परीक्षाएँ पास करना। इसके ज़रिए इन्सान स्वर्ण पदक हासिल कर सकता है, शायद बड़ी नौकरी पा सकता है, लेकिन इन्सानियत हासिल नहीं कर सकता। पुस्तकों के पठन से हम उच्च विचार या आदर्श की शिक्षा हासिल कर सकते हैं, यह सच है, लेकिन जब तक उन विचारों की समझदारी नहीं बन जाती, उन्हें हम आत्मसात् नहीं कर लेते, कार्य में परिणत नहीं कर लेते, तब तक हम अपने चरित्र का निर्माण नहीं कर सकते।"

इन बातों से हम भली–भाँति समझ सकते हैं कि शिक्षा, विशेषकर स्कूली शिक्षा, की अपेक्षाएँ एवं चुनौतियाँ कितनी गंभीर हैं। आजकल स्कूलों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है, उनमें तकनीकी जानकारी पर ज्यादा एवं विश्लेषण पर कम बल दिया जाता है, तथा बोर्ड परीक्षाओं में कैसे ज्यादा से ज्यादा अंक प्राप्त किए जाएं इसकी तैयारी कराई जाती है। प्राइवेट कोचिंग/ट्यूशन की मानो होड़ लगी हुई है – प्रायः प्रत्येक विद्यार्थी गणित, विज्ञान के अन्य विषयों, यहाँ तक कि अंग्रेजी एवं हिंदी जैसे विषयों में प्राइवेट ट्यूशन प्राप्त करने को मजबूर हो रहे हैं, जिससे साफ ज़ाहिर है कि विद्यार्थियों को स्कूलों में अच्छी एवं सुलभ शिक्षा प्राप्त करने का मानव अधिकार गौण होता जा रहा है। स्कूल रहने के बावजूद, प्राइवेट ट्यूशन के माध्यम से दोहरी शिक्षा प्राप्त करने का अर्थ है कि अब बच्चे स्कूलों से शिक्षा प्राप्त करने के मौलिक अधिकार की अपेक्षा नहीं कर सकते।

अतः, स्कूली शिक्षा से पहली अपेक्षा है कि छात्रगण स्कूल से ही पूर्ण शिक्षा प्राप्त करें, प्राइवेट ट्यूशन से नहीं, तथा स्कूली शिक्षा एक सुखद अनुभव हो, टीचरों की प्रताड़ना न हो एवं अपमान का कोई स्थान नहीं हो।

दूसरी अपेक्षा है कि मात्र उच्च अंक प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा नहीं हो – सभी छात्र सही माने में शिक्षित हों, उनका चरित्र निर्माण हो, पाठ्यक्रमेतर कार्य कलापों का अनुभव हो, एवं सभी के प्रति सद्व्यवहार का संस्कार हो यानि, स्कूली शिक्षा मानवतावादी, समाजवादी एवं वैज्ञानिक सोच पर आधारित हो।

तीसरी अपेक्षा है कि स्कूली शिक्षा बच्चों में अच्छे नागरिक बनने की नींव डाले, उन्हें अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों से अवगत कराए, तथा ज्यादा से ज्यादा ज्ञान प्राप्त करने का कौतूहल बढ़ाए।

चौथी अपेक्षा है कि स्कूली शिक्षा सत्य ज्ञान एवं भरोसेमन्द जानकारी दे, अच्छाई एवं बुराई को परखने की शिक्षा दे।

पाँचवी अपेक्षा है कि स्कूली शिक्षा आत्म निर्भरता सिखाए, देशभक्ति को जगाए तथा सभी के प्रति हेतु रहित दया करने को प्रेरित करे।

यानि कुल मिलाकर स्कूली शिक्षा विद्यार्थियों को अच्छे, जानकार, शिक्षित नागरिक बनाए जिन्हें मानव अधिकारों का पूरा ज्ञान हो और जो इस ज्ञान के सहारे भविष्य में अपना कर्तव्य बखूबी निभा सकें। ऐसा अगर हो, तो आगे चलकर किसी पुलिस हाजत में अस्वभाविक मृत्यु नहीं होगी, हिरासत में लिए गए किसी कैदी की अमानविक प्रताड़ना नहीं होगी, सशस्त्र बलों के विरुद्ध मानव अधिकारों के हनन का आरोप नहीं लगेगा, सरकारी कर्मियों द्वारा आम जनता को सताया नहीं जाएगा, सभी बच्चे शिक्षा प्राप्त करेंगे, बाल मजदूरी, बन्धुआ मजदूरी एवं बाल विवाह समाप्त होंगे, मानसिक रोगियों का ससमय इलाज होगा, वृद्धों की परिवार वालों द्वारा समुचित देखभाल होगी, डायन प्रथा एवं दहेज प्रथा खत्म होगी, पर्यावरण की रक्षा होगी, कोई भूख से नहीं मरेगा, बच्चे एवं माताएँ कुपोषित नहीं होंगे, इत्यादि। अच्छी स्कूली शिक्षा की ये सारी अपेक्षाएँ हैं।

किन्तु चुनौतियाँ भी अनेक हैं। सर्व शिक्षा अभियान के बावजूद, अभी भी शिक्षा प्रक्षेत्र के लिए सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत खर्च भारत सरकार द्वारा नहीं किया जा रहा है जबकि इतना खर्च करने का वादा किया गया था। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सभी गाँव के बच्चों को गुणात्मक शिक्षा प्राप्त हो रही है। भारत के संविधान में अब प्रारम्भिक शिक्षा बच्चों का मौलिक अधिकार बन चुका है किन्तु सबसे बड़ी चुनौती है कि इसे कौन लागू करेगा, कैसे लागू करेगा एवं कितने समय में यह लागू होगा। जब तक प्रत्येक बच्चे को स्कूली शिक्षा नसीब नहीं होगी, तब तक वह मानव अधिकारों के ज्ञान से बेखबर रहेगा और इतने बड़े देश में जहाँ भारी मात्रा में अभी भी बच्चे स्कूल नहीं जाते अथवा किसी कारण वश स्कूली शिक्षा पूरी नहीं कर पाते, उन्हें इस मौलिक अधिकार जो मानव अधिकार भी है, को दिलाना एक बहुत बड़ी चुनौती है। राष्ट्र को इस हेतु पूरे तन, मन, धन से जुटना होगा तभी देश के बच्चे कम से कम प्रारम्भिक शिक्षा तो प्राप्त कर सकेंगे।

दूसरी चुनौती है शिक्षा का व्यवसायीकरण, फलस्वरूप विद्यार्थियों में भेदभाव। नामजद स्कूलों में शुल्क भारी मात्रा में चुकाना पड़ता है जिस कारण गरीब बच्चे हमेशा उनसे वंचित हो जाते हैं। नतीजा यह होता है कि आगे चलकर समाज में भेद–भाव बढ़ता जाता है।

तीसरी चुनौती है शिक्षा के नाम पर विषयों एवं किताबों का बोझ जिसके फलस्वरूप विषयवार बहुत कम ज्ञान प्राप्त होना। विद्यार्थियों को मात्र प्रश्नोत्तरों को रटने के सिवाय शायद ही कोई समय या मौका मिलता होगा जिसमें वह स्वयं पहल कर ज्ञान प्राप्त कर सके अथवा ज्ञानवर्धन कर सके। विद्यार्थियों पर हमेशा यह दबाव रहता है कि उन्हें बोर्ड की परीक्षा में अच्छे नम्बर लाने हैं अन्यथा अच्छे कॉलेजों/संस्थानों में दाखिला नहीं हो सकेगा। ऐसी परिस्थिति में किसी विषय को मानव अधिकार के दृष्टिकोण से समझने या पढ़ने की सम्भावना क्षीण होती है।

चौथी चुनौती है कि प्रायः मानव अधिकार को एक अलग विषय माना जाता है, अतः उसे स्कूल में पढ़ाने में हिचक होती है कि एक और विषय का बोझ बढ़ेगा। लोग यह नहीं सोचते कि प्रारम्भिक शिक्षा में मानव अधिकार के विषय को अन्य विषयों के पाठ्यक्रम में आसानी से जोड़ा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर, अगर हिंदी या अंग्रेज़ी का विषय हो, तो उसमें ऐसे लेखकों द्वारा लिखित पाठों को सम्मिलित किया जा सकता है जो मानवीय संवेदनाओं से युक्त हो, क्योंकि बिना मानवीय संवेदनाओं के मानव अधिकार की बात हो ही नहीं सकती। अगर समाजशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, अर्थशास्त्र पढ़ाया जा रहा हो, तो उसमें मौलिक अधिकारों के साथ–साथ मानव अधिकारों की चर्चा हो क्योंकि यद्यपि सभी मौलिक अधिकार मानव अधिकार हैं, सभी मानव अधिकार सम्प्रति मौलिक अधिकार नहीं हैं।

पाँचवी चुनौती है मानव अधिकारों की अज्ञानता, विशेषकर शिक्षकों में। अवश्य ही यह आश्चर्य का विषय है। वैसे तो मैंने पुलिस पदाधिकारियों को मानव अधिकार शब्द से चिढ़ते हुए देखा है और बहुतेरे पुलिस पदाधिकारी मानव अधिकारों के संरक्षण में विश्वास नहीं रखते। हाँ, जब उनकी सरकारी सुख–सुविधाओं में किसी प्रकार की कमी होती है, तब वे अपने अधिकारों की बात करते हैं। जहाँ तक शिक्षकों का सवाल है, बहुत से शिक्षकों को तो मौलिक अधिकारों की जानकारी तक नहीं है – मानव अधिकार शब्द को समझना या इसके बारे में जानकारी रखना तो दूर रहा। जब शिक्षकों का यह हाल है तब बच्चों को मानवाधिकारों के बारे में कौन बताएगा ? बहुत से शिक्षक बच्चों को शारीरिक एवं मानसिक रूप से प्रताड़ित भी करते हैं किन्तु यह नहीं जानते कि ऐसा करने से बच्चों के मानवाधिकारों का हनन हो रहा है।

छठी चुनौती है स्कूली शिक्षा में आधारभूत सुविधाओं का अभाव–स्कूल भवनों की कमी, पठन–पाठन की सामग्री एवं उपस्करों की कमी, शिक्षकों के रिक्त पद, इत्यादि।

जब पेड़ के नीचे चिलचिलाती धूप में शिक्षक एवं छात्र जमीन पर बैठकर पढ़ाने/पढ़ने को मजबूर हो, जब बरसात में टूटी हुई छत के नीचे भीगते हुए एवं बिना बिजली के पढ़ाई करनी हो, जब बहुत दूर पैदल चलकर बच्चे स्कूल में आकर शिक्षकों को अनुपस्थित पाएँ, जब गरीब छात्रों को भूख सताए, तब मानव अधिकार का पाठ पढ़ाना बेमानी होगा। मानवाधिकार का प्रश्न तब उठेगा जब हम इन बच्चों को, इन शिक्षकों को, मानव समझेंगे, मात्र गिनती के लिए इकाई नहीं।

इन सारी बातों से स्पष्ट है कि स्कूली शिक्षा मानव अधिकारों से सम्बन्धित ज्ञान अर्जन हेतु अति महत्वपूर्ण है। अगर विभिन्न राज्यों में स्कूलों का संचालन ठीक से नहीं हो रहा हो, तो यह मानना पड़ेगा कि बच्चों के मौलिक एवं मानव अधिकारों का हनन हो रहा है। यह एक दंडनीय अपराध माना जाना चाहिए तथा इस हेतु मात्र अभिभावकों को ही नहीं बल्कि राज्य सरकारों को भी दंडित करना चाहिए। भारत सरकार से यह मांग होनी चाहिए कि स्कूलों के पाठ्यक्रम में अनिवार्य रूप से मानवाधिकार का विषय जोड़ने का कानून बनाए। मानव अधिकार विषय पर व्यापक प्रचार–प्रसार होना चाहिए। इस हेतु इलेक्ट्रॉनिक एवं प्रिन्ट मीडिया का सहारा लेना होगा। प्रत्येक राज्य में मानव अधिकार आयोग का गठन होना चाहिए जिस पर मानवाधिकार विषय के प्रचार–प्रसार का उत्तरदायित्व होगा। प्रत्येक स्कूल–कॉलेज में मानव अधिकारों के बारे में गोष्ठियाँ एवं चर्चाएँ होनी चाहिएं ताकि सभी छात्रों को इस विषय की जानकारी हो।

मानव अधिकार पाश्चात्य देशों की देन नहीं है। भारतीय संस्कृति में मानवता के नाम पर इन सारे अधिकारों के चर्चे मिलेंगे। जरूरत है हम भारतीयों को अपनी भूली हुई संस्कृति को याद करने की, उनकी कुरीतियों को दूर करने की तथा अन्य देशों से अच्छी सोच, विचार एवं व्यवस्था को अपनाने की। शहीद भगत सिंह ने लिखा था, "यह हम मानते हैं कि विद्यार्थियों का मुख्य काम पढ़ाई करना है, उन्हें अपना पूरा ध्यान उस ओर लगा देना चाहिए लेकिन क्या देश की परिस्थितियों का ज्ञान और उनके सुधार के उपाय सोचने की योग्यता पैदा करना उस शिक्षा में शामिल नहीं ? यदि नहीं, तो हम उस शिक्षा को भी निकम्मी समझते हैं जो सिर्फ क्लर्की करने के लिए ही हासिल हो।"

साथ ही हम कह सकते हैं कि वह शिक्षा अपूर्ण है जिसमें मानवता एवं मानव अधिकारों का ज्ञान सम्मिलित न हो। इनके बगैर विद्यालय सर्टिफिकेट एवं डिगरियाँ हासिल करने के कारखाने मात्र ही रह जाएँगे।

आधुनिक भारतीय शिक्षा में निहित मनुष्य की अवधारणा का आशय

— दिनेश कुमार शर्मा

किसी भी परंपरा या सभ्यता का उदय इस असलियत पर आधारित होता है कि उस समाज में शिक्षित लोगों का प्रतिशत कितना है या दूसरे शब्दों में इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि किसी भी राष्ट्र या समाज की बुनियाद उस समाज व राष्ट्र के स्तर पर निर्भर होती है।

शिक्षा का सीधा सरोकार किसी देश व राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अभ्युदय से होता है। प्रस्तुत लेख में इन सब बातों को केन्द्र में रखकर आधुनिक भारतीय शिक्षा में अंतर्निहित मनुष्य के आशय की अवधारणा को प्रतिबिंबित करने का प्रयास किया गया है। लेखक ने शिक्षा को मानवीय सभ्यता की प्रथम पाठशाला माना है और इस पाठशाला में मनुष्य को इंसानियत के संस्कारों से दीक्षित किया जाता है। शिक्षा, चरित्र निर्माण के साथ–साथ व्यक्ति के अन्दर निहित संस्कारों को न केवल उद्घाटित करता है अपितु उसे अपने–अपने वातावरण के अनुसार पुष्पित एवं पल्लवित भी करता है। लेखक की चिंता है कि सरकार द्वारा बनाई गई शिक्षा पद्धति सभी को अक्षर ज्ञान कराने में सफल तो हुई किंतु मनुष्यता का वास्तविक दर्जा दिलाने में पूर्ण रूप से असफल हुई।

आज लेखक इस बात के लिए भी चिंतित है कि शिक्षक और विद्यार्थी दोनों ही अपने–अपने उद्देश्य से भटक रहे हैं। शिक्षक न तो पढ़ाने का काम करते हैं और न ही विद्यार्थी पढ़ने का कार्य करते हैं। दबाव पर आधारित शिक्षा प्रणाली ने तथा उससे प्राप्त ज्ञान कभी भी टिकाऊ नहीं होता। वह मनुष्य के लिए वरदान न होकर अभिशाप बन जाता है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास होना चाहिए न कि एकांगी।

किसी भी परम्परा या सभ्यता का विकास इस तथ्य पर आधारित होता है कि समाज में शिक्षित लोगों का प्रतिशत कितना है या दूसरे शब्दों में इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं किसी भी समाज की बुनियाद उस समाज के शिक्षा के स्तर पर निर्भर

• एजेंटिंग ऑफिसर, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

करती है। शिक्षा का सीधा संबंध किसी भी देश या राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक विकास से होता है। विश्व का कोई भी राष्ट्र उन्नति के मार्ग पर तब तक अग्रसर नहीं हो सकता है जब तक उस राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षा प्राप्त करने के अनुकूल साधन व सुविधाएं उपलब्ध न हों। वैसे तो शिक्षा बच्चे की मां के गर्भ से ही मिलनी शुरू हो जाती है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बच्चे को मां के गर्भ में जो संस्कार प्राप्त होते हैं उसका सीधा असर उसके चरित्र, मन, मस्तिष्क तथा सम्पूर्ण जीवन पर परिलक्षित होता है। एक पुरानी कहावत है –'व्यक्ति जैसा अन्न खाता है वैसा ही उसका मन होता है और जैसा पानी पीता है वैसी ही उसकी वाणी होती है।' उपनिषद् में कहा गया है "अन्न वै ब्रह्मः" अर्थात् अन्न ही ब्रह्म है। यदि गर्भावस्था के दौरान मां की मानसिक एवं शारीरिक अवस्था में संतुलन नहीं बना रहेगा तो होने वाले गर्भस्थ शिशु पर भी इसका बुरा असर पड़ेगा। गर्भ के दौरान मां को सकारात्मक सोच से दीक्षित किया जाता है। शिक्षा व्यक्ति के विकास का ऐसा सजग पहलु है जिसको बचाना हम सबकी जिम्मेदारी है। उपनिषद में भारतीय गुरूकुल परम्परा की महत्वपूर्ण विशेषताओं को आधुनिक शिक्षा प्रणाली के साथ सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया गया है। शिक्षा मानवीय सभ्यता की प्रथम पाठशाला है। इसी पाठशाला में दीक्षित एवं परीक्षित होकर बच्चे अपने खुशहाल एवं चारित्रिक विकास की नींव रखते हैं। प्राचीन शिक्षा और आधुनिक शिक्षा दोनों का उद्देश्य समाज को विवेक और यथार्थ की कसौटी पर कस कर अपनी जिम्मेदारी का अहसास कराना है। व्यवहार और सिद्धान्त की मानवीय संवेदनाओं पर आधारित शिक्षा किसी भी विकासशील समाज का मेरूदण्ड होती है।

किसी भी सभ्य समाज की उन्नति इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उस समाज में शिक्षा का स्तर क्या है। शिक्षा का सीधा सम्बन्ध किसी भी देश के सामाजिक व आर्थिक विकास से है। कोई भी राष्ट्र तब तक उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता जब तक कि उस राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षा प्राप्त करने का अनुकूल साधन न हो। शिक्षा पद्धति ही समाज के चरित्र का निर्धारण करती है। समय–समय पर शिक्षा पद्धति में परिवर्तन होता है और यह समय की आवश्यकता भी है। हो सकता है कि जो शिक्षा प्रणाली पिछली शताब्दी में सही थी, वो आज के परिप्रेक्ष्य में पूर्ण–रूप से सार्थक न हो। इसी तरह शिक्षा प्रणाली का निर्धारण समाज की दिशा, दशा व विचार के अनुसार होना चाहिए। शिक्षा प्रणाली तब तक सार्थक नहीं मानी जायेगी, जब तक कि यह समाज व मनुष्य की उन्नति का माध्यम न बन सके। परन्तु यहाँ यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि उन्नति का अर्थ केवल भौतिक उन्नति नहीं है। अगर हम इस विचार को आगे बढ़ाये तो हम पाएंगे कि किसी भी शिक्षा प्रणाली का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य को सही अर्थों में शिक्षित करना है। अतः हमें यह देखना है कि क्या आज की शिक्षा प्रणाली अपने वास्तविक उद्देश्य को पूरा करने में सफल रही है। भारतीय शिक्षा प्रणाली आज कठिन दौर से गुजर रही है। भारत में शिक्षा के बुनियादी मूल्यों की

नैतिकता के अभाव के कारण आम आदमी हमेशा इसकी उपेक्षा का शिकार रहा है। भारतीय शिक्षा में समन्वय एवं सामंजस्य की कमी के कारण आम आदमी के स्वाभिमान एवं उसके जीवित रहने की जरूरतों को उसकी नजरों से दूर रखा है।

प्राचीन भारत में शिक्षा का मुख्य साधन व स्थान गुरुकुल व आश्रम हुआ करते थे। गुरु–शिष्य की एक सशक्त एवं अनोखी परंपरा हमारे देश व संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ उपहार है। शिष्य को इस दौरान कठोर तपस्या व साधना से गुजरना पड़ता था। उसके पश्चात् उसे भारतीय ज्ञान के सम्पूर्ण धर्म व दर्शन से परिचित कराया जाता था। इन गुरुकुलों में विद्यार्थी को केवल अक्षर ज्ञान से ही परिचित नहीं कराया जाता था अपितु उसे शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक स्तर पर भी दीक्षित किया जाता था। गुरुकुल ही है कि जो शिक्षा पद्धति लॉर्ड मैकाले ने केवल भारतीयों को बाबू बनाने के लिए लागू की थी हम आजादी के 60 साल बाद भी अपनाए हुए हैं। आज की शिक्षा प्रणाली मुख्यतः अक्षर ज्ञान तक ही सीमित है। यह केवल अपूर्ण और असामान्य ज्ञान देने में ही सक्षम है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य में आत्म विश्वास को जागृत करना है। परन्तु आज की शिक्षा प्रणाली इस उद्देश्य को प्राप्त करने में पूर्णतः अक्षम है। आरम्भ में विद्यार्थी को इतिहास, भूगोल, विज्ञान और सामाजिक विषय वस्तु का बोध कराया जाता है। परन्तु यह बोध अत्यन्त सामान्य और अधूरा होता है। शिक्षा प्रणाली विद्यार्थी की रूचि जागृत कराने में सक्षम नहीं है, और जब तक विषय में रूचि उत्पन्न नहीं होती, विषय बोध असम्भव है। इस बात से कोई भी मना नहीं कर सकता कि इतिहास, भूगोल, विज्ञान और सामाजिक विषय भी अत्यन्त आवश्यक हैं, परन्तु शिक्षा का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थी को एक जिम्मेदार नागरिक, एक अच्छा इन्सान व सही अर्थ में मनुष्य बनाना है। शिक्षा का उद्देश्य Literacy नहीं Education होना चाहिए। आखिर शिक्षा प्रणाली है किसके लिए? यह किसके लिए बनी है। मनुष्य के लिए और अगर यह मनुष्य को वास्तविक उद्देश्य प्राप्त कराने में सक्षम नहीं है, तो हम इसे असफल ही कहेंगे।

जैसे अच्छी गायकी के लिए दिल–ओ–दिमाग का रोशन होना बहुत जरूरी है, इसी तरह एक अच्छे इंसान का दिल रोशन होना भी बहुत जरूरी है और यह काम सिर्फ अच्छी शिक्षा प्रणाली ही कर सकती है।
बरसों पहले गालिब ने लिखा था :–

बस कि दुश्वार है, हर काम का आसां होना।
आदमी को मयस्सर नहीं इंसा होना।।

विद्या जीवन का अभिन्न अंग है और शिक्षा उसका आवश्यक उपादान। दोनों का उद्देश्य समाज के अंदर व्याप्त अंधविश्वास, स्वार्थपरता को जड़ से उखाड़ फेंकना है। शिक्षा का एक उद्देश्य बच्चे के अंदर व्याप्त नीरसता को दूर कर उसके अंदर सजगता

जगाना है। शिक्षा जीवन की साधना की पृष्ठभूमि में इस प्रकार तपाती है जिससे कुन्दन परम्परा का मुख्य उद्देश्य केवल जीविकोपार्जन नहीं था अपितु विद्यार्थी के आत्मबल को मजबूत करना भी था। परन्तु समय के साथ इसमें परिवर्तन आता चला गया। आज की शिक्षा प्रणाली हमने मुख्यतः अंग्रेजी शासकों से विरासत में पाई थी। यह एक दुर्भाग्य सोना बन कर अपने अस्तित्व को बिखेरता है। "सा विद्या या विमुक्त्यै" मंत्र को जीवन में अक्षरशः चरितार्थ करने वाली विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती और जिनकी जिह्वा पर सरस्वती का वास होता है उनके परिवार में श्री विद्या की श्रीवृद्धि के साथ यश की भी वृद्धि होती है। आज न तो शिक्षक में पढ़ाने की निष्ठा है और न ही विद्यार्थी में पढ़ने की ललक क्योंकि दोनों का उद्देश्य शिक्षित करना नहीं अपितु शिक्षा का व्यावसायीकरण करना है। ऋषियों के द्वारा शिक्षा के संबंध में बताए गए मार्ग से हम भटक गए हैं। जिसके कारण हमारे समाज की दुर्दशा हो रही है। चरित्र निर्माण की बात तो बेमानी सी है। शहर के बच्चे को जन्म लेते ही गुड मार्निंग की घुट्टी पिलाई जाती है जिसके कारण उसके दिमाग में अपनी संस्कृति के प्रति जो लगाव होना चाहिए वह नहीं हो पा रहा है। अपनी मातृभाषा में हृदय बोलता है और जितनी सहजता से हम अपनी मातृभाषा में अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सकते हैं उतनी सहजता से हम दूसरी भाषा में अपने विचार और भावनाओं को प्रकट नहीं कर सकते। सरकार द्वारा बनाई गई शिक्षा पद्धति हमें अक्षर ज्ञान कराने में तो सफल हो गयी लेकिन मनुष्य का वास्तविक उद्देश्य पूरा करने में पूर्णतः असफल रही। इसका मुख्य कारण है कुकुरमुत्तों की तरह उगने वाले अंग्रेज़ी माध्यम के कॉन्वेन्ट स्कूल और शिक्षा का व्यवसायीकरण। आज घर–घर में अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा दिलाने की होड़ सी लगी हुई है। हर मां बाप यह बताने में गर्व महसूस करता है कि मेरा बच्चा अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ रहा है। दबाव पर आधारित ज्ञान की यह परम्परा किसी भी सभ्य समाज व राष्ट्र के लिए उपयोगी एवं टिकाऊ नहीं हो सकती। इस प्रकार स्पष्ट है शिक्षा का मूलभूत आशय मनुष्य को मनुष्य बनाना है और यह तब तक संभव नहीं है जब तक शिक्षा पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन कर उसे इंसानियत के दायरे में न लाया जाए। भारतीय शिक्षा में स्थापित मनुष्य की अवधारणा का आशय तभी ठीक ढंग से अपने अस्तित्व की रक्षा कर पाएगा जब तक उसमें शिक्षाविदों, विचारकों, समाज सुधारकों तथा गैर–सरकारी संगठनों के योगदान को नहीं लिया जाएगा। यह केवल कागजी हिसाब–किताब रखने से नहीं प्राप्त होगा अपितु सरकार की तरफ से बनाई गई नीतियों और निर्णयों का अनुपालन कड़ाई एवं कारगर ढंग से हो। मनुष्य की अवधारणा को समझने के लिए भारतीय ज्ञान के सिद्धान्त को विभिन्न अवयवों को देखना बहुत आवश्यक है और उसमें शिक्षा के संबंध में दिए गए दिए बहुमूल्य सुझावों को बारीकी से समझना होगा तथा उस पर अमल करने के लिए अनुभवी प्राध्यापकों, स्कूल के प्राधानाचार्यों से सलाह मशविरा करके एक ऐसी योजना तैयार की जानी चाहिए जिसमें समाज के सभी समुदायों, सभी सम्प्रदायों की भागीदारी है। राष्ट्र के चरित्र निर्माण में इन सबके योगदान को भी आने

वाली पीढ़ी जान सके और उन्हें अपना आदर्श बना सके।शिक्षा का काम सर्वत्र अभय का सृजन व प्रसार करना है मगर आज के युवा वर्ग को देखें, तो हो उल्टा रहा है। समाचार पत्रों में विद्यार्थियों के आत्महत्या के किस्से छपते ही रहते हैं। हर विद्यालय और महाविद्यालय में विद्यार्थी भय से पीड़ित है, भयभीत है। युवकों की ऐसी भीड़ है जो सिर्फ चाकरी की आस रखते हैं और इसे ही अपनी सफलता मान लेने को तैयार हैं। आज के विद्यार्थी का तन बस्ते से और मन परीक्षा के बोझ से दबा हुआ है। उल्लास और उमंग जैसे खो गया है। सब कुछ चल रहा है पर नितांत यंत्रवत्।

भारतीय विचारकों ने वेद में विद्या का उद्देश्य बोध माना है। जब तक ज्ञान नहीं होगा बोध नहीं होगा। भारत के दर्शन और पाश्चात्य दर्शन में मूलभूत अन्तर है क्योंकि आज की हमारी शिक्षा पद्धति पश्चिम देश की देन है, इसलिए ज्ञान का क्षेत्र भोग, जीवन–रक्षा और यशोवृद्धि तक सीमित हो कर रह गए। इनके मूल में भौतिक विकास ही है। शिक्षा वास्तविक विकास कर पाने में अक्षम रही। आधुनिक शिक्षा प्रणाली आदमी को भूल कर बड़ी इमारतें, बड़े उद्योग को ही अपना लक्ष्य समझ बैठी व आदमी आँख से ओझल हो गया। भौतिक वस्तुऐं प्रधान हो गयी और आदमी गौण हो गया है। आज की शिक्षा प्रणाली मनुष्य को उसके जीवन के वास्तविक उद्देश्य से दूर करती जा रही है। "सर्वजन हिताय – बहुजन सुखायः" जैसे वास्तविक उद्देश्य से हम दूर होते जा रहे हैं। चरित्र–निर्माण, मनुष्य से मनुष्य का प्रेम व निस्वार्थ–सेवा जैसी चीज़ों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। आज के प्रतिद्वंदी युग ने इन चीज़ों को निरर्थक बना दिया और शायद यही आज की शिक्षा प्रणाली की सबसे बड़ी असफलता है। आज की शिक्षा प्रणाली में अध्यात्म को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। जबकि मनुष्य की पहली स्वीकृत परिभाषा मनु की है – जो मानव को परमात्मा का अंश मानती है। इस सारी चर्चा को अगर हम देखें तो पाएंगे कि आधुनिक शिक्षा पद्धति मनुष्य को अक्षर ज्ञान तो देने में सफल रही है, परन्तु मनुष्य को उसके जीवन के वास्तविक उद्देश्य को परिपूर्ण कराने में असफल रही है। बड़े विश्वविद्यालय, महंगे पब्लिक स्कूल और कन्वेंट स्कूल शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त करने में तब तक सफल नहीं हो सकते, जब तक कि इस पर बल न दिया जाए कि इसमें निहित मनुष्य की अवधारणा का आशय क्या है। मेरे विचार से मुख्य रूप से शिक्षा का उद्देश्य केवल विद्यार्थी को "मनुष्य" बनाना है। एक ऐसा मनुष्य जो एक जिम्मेदार नागरिक, एक अच्छा इन्सान व दूसरों के लिए उदाहरण बन सके। एक ऐसा मानव जो दूसरे मानव के अधिकारों का भी सम्मान करे।

शिक्षा का अधिकार : दशा एवं दिशा

• स्वरूपमा चतुर्वेदी

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेश गमने विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूजिता नहि धनं विद्याविहीनः पशुः।।

– भर्तृहरि, नीतिशतक

शिक्षा मनुष्यत्व की पहचान है। विद्या मनुष्य को जागरूक बनाती है। एक महत्वपूर्ण तथा मूल मानवाधिकार होने के साथ–साथ शिक्षा मानवाधिकारों की प्राप्ति का साधन भी है। शिक्षा मनुष्य को सम्पूर्ण, श्रेष्ठ तथा समाज में उपयुक्त बनाती है तथा उसके सर्वांगीण विकास में योगदान देती है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपने को पहचान कर अपने गुणों का विकास करता है। प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य है तथा निःशुल्क शिक्षा प्रदान कर शिक्षा सभी के लिए उपलब्ध कराई जा सकती है। राज्य का दायित्व है कि "सर्वशिक्षा अभियान" तथा "शिक्षा आपके द्वार" योजनाओं को शुरू कर पूर्ण साक्षरता के लक्ष्य को प्राप्त करे।

विद्या वास्तविक अर्थ में मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य है, छिपा हुआ गुप्त धन है। विद्या भोग, यश एवं सुख प्रदान करने वाली है। विद्या गुरुओं का गुरु है। विदेश में विद्या ही आत्मीय बन्धु है। यह सबसे बड़ा देवता है। विद्या ही राजाओं में पूजी जाती है, धन नहीं। वास्तव में विद्या से हीन व्यक्ति पशु के समान है।

विद्या अर्थात् शिक्षा को लेकर कही गयी यह सूक्ति आज के भूमंडलीकरण, व्यापार, विदेशी निवेश और जीवन में सुख के आधार के रूप में अपने नये अवतार में पूरी तरह प्रासंगिक है। मानवाधिकार के रूप में शिक्षा के अधिकार की प्रासंगिकता को समझने में यह सूक्ति प्रधान बिन्दु है। शिक्षा मनुष्य का सही अर्थों में निर्माण करती है या कहें शिक्षा मनुष्य होने का पर्याय है, यह सबको विदित है पर आज भी शिक्षा सबको उपलब्ध नहीं है और कहा जा सकता है कि बहुतों को मनुष्यता से वंचित रखा जा रहा है। वैसे, यह भी एक विकट प्रश्न है कि जो शिक्षा मिल रही है वह गुणवत्ता की दृष्टि

• शोध छात्रा, विधि विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली -110007.

से कैसी है? या शिक्षा वस्तुतः मनुष्य बना भी रही है या नहीं? या किस प्रकार के मनुष्य बना रही है? अपराध, हिंसा, भ्रष्टाचार और घृणा का जहर फैलाने वाले असामाजिक तत्वों में शिक्षित वर्ग भी शामिल है। इसके कारणों पर विचार किया जाना भी आवश्यक है।

शिक्षा स्वयं अपने आप में एक मानवाधिकार भी है और मानवाधिकारों की प्राप्ति का साधन भी, इसलिए शिक्षा की गुणवत्ता पर निगरानी आवश्यक है। मानवाधिकार वे अधिकार हैं जो व्यक्ति में मानव होने के नाते अन्तर्निहित हैं और समग्र व्यक्तित्व के विकास के लिए अनिवार्य हैं। अर्थात् वे अधिकार जो मानव को 'भय' और 'भूख' से मुक्ति दिलाने के लिए और सही अर्थों में जीने के लिए आवश्यक हैं, मानवाधिकार कहे जा सकते हैं।

शिक्षा : एक मानवाधिकार

मानवाधिकार प्राप्त कराने की दिशा में शिक्षा विशिष्ट भूमिका निभा सकती है क्योंकि शिक्षा मानव जीवन का महत्वपूर्ण लक्ष्य या साध्य होने के साथ–साथ वांछनीय लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन भी है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास कर, उसे आर्थिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक कार्यों को सम्पन्न करने योग्य बनाती है। शिक्षा को एक ऐसे उपकरण के रूप में जाना जा सकता है जिसकी सहायता से समाज में परिवर्तन व विकास के अभीष्ट लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि 1948 के मानवाधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा पत्र में शिक्षा को प्रत्येक मनुष्य के मूल अधिकारों में से एक माना गया।

शिक्षा के अधिकार की आवश्यकता को समझने के लिए इसकी प्रासंगिकता को जानना आवश्यक है। मानवीय सभ्यता के विकास में शिक्षा, माँ की गोद की तरह है जिसके प्यार, दुलार व फटकार के बीच एक शिशु दिन–प्रतिदिन सफलता की नई बुलन्दियों को छूता है। पर शिक्षा मात्र जीविकोपार्जन का साधन नहीं बल्कि विचारों की संवर्धन स्थली है। यह ज्ञान और प्रकाश की अन्तहीन यात्रा है। अपने आदर्श रूप में यह यात्रा विकास की राहें खोलती है जहाँ ईर्ष्या, घृणा, शत्रुता, संकीर्णता और वैमनस्य का कोई स्थान न हो। यह मनुष्य को सम्पूर्ण, श्रेष्ठ और समाज के उपयुक्त बनाती है। यथार्थपरक शिक्षा मनुष्य की गरिमा को बढ़ाती है।

शिक्षा अच्छी नागरिकता की आधारशिला है।[1] अशिक्षित नागरिक अपने अन्य मूल अधिकारों का प्रयोग नहीं कर पाता।[2] इससे विभिन्न मानवाधिकारों को समझने और उपयोग में लाने में सहायता मिलती है। यह मनुष्य में सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति जागरूकता पैदा करने और वातावरण के अनुसार स्वयं को ढालने में सहायक होती है। शिक्षा शारीरिक विकास, मानसिक संवर्धन, संवेग के परिष्कार और भावना के अलंकरण के संश्लेषण द्वारा व्यक्तित्व को पूर्णता की ओर ले जाती है।[1] अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर देशों

के विकास का पैमाना मानव विकास मापनी को देखें तो शिक्षा की केन्द्रीयता उजागर होती है। राष्ट्र को बहुमुखी उन्नति के पथ पर आगे ले जाने में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शिक्षा ही वह साधन है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में समाहित गुणों को निखारकर समाज एवं राष्ट्र के सर्वांगीण विकास में योगदान देता है। एक जनतान्त्रिक देश समाज के नागरिकों की प्रबुद्धता से ही अपना स्वरूप निर्धारित करता है। जनतंत्र हम सच्चे अर्थों में तब तक नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि देश के कोने–कोने में मौजूद सभी गरीब और पिछड़े समेत शिक्षित न हो जाएं।

राजनैतिक स्वतंत्रता के लगभग 6 दशक अर्थात् आधी शताब्दी से ज्यादा बीत जाने के बाद भी आज भारत की लगभग 35 प्रतिशत जनसंख्या निरक्षर है, यदि स्तरीय शिक्षा की बात यहां छोड़ दें, तो यह प्रश्न उठता है कि क्या हम भारत को सफल जनतान्त्रिक राज्य कह सकते हैं? जन तंत्र बचा हुआ है पर अन्दर ही अन्दर हम विकारों से खोखले भी हो रहे हैं। अशिक्षा की वजह से आम जनता अपने मौलिक अधिकारों और राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों, दोनों से ही अनजान है और धूर्तों–पाखण्डियों द्वारा शोषित होने के लिए अभिशप्त है। अधिकारों के प्रति अज्ञानता के चलते लगभग आधी जनता गरिमामय जीवन तो छोड़, साधारण जीवन जीने को भी तरस रही है। वैसे, कर्तव्यों की अज्ञानता भी है और भारत में अपनी जिम्मेदारी समझने वाले नागरिकों का अभाव भी है। भारत की विकास दर में मंद गति होने का भी यह प्रमुख कारण है। शिक्षा समाज के सशक्तिकरण का माध्यम है। यह एक ऐसा जरिया है जिससे सामाजिक एवं आर्थिक रूप से उपेक्षित लोगों को गरीबी एवं उपेक्षा के अभिषाप से मुक्त कराया जा सकता है। कहना न होगा कि आज शिक्षा का अधिकार केवल सामाजिक आवष्यकता न होकर राजनैतिक आवश्यकता भी बन गया है। शिक्षा के अधिकार को सर्वसुलभ कराए बगैर प्रगति एवं विकास के लक्ष्य को पाना मृग–मरीचिका जैसा ही है।

प्राथमिक शिक्षा को जन–जन तक पहुंचाने के सरकार के अनगिनत प्रयासों एवं अन्तरराष्ट्रीय सहयोगों के बावजूद आज भी करोड़ों बच्चे स्कूल का मुंह नहीं देख पाते। सम्पूर्ण साक्षरता की प्राप्ति आज भी एक बहुत बड़ी चुनौती बनी हुई है। इस परिस्थिति में यह आवश्यक है कि सार्वभौम साक्षरता की लक्ष्य प्राप्ति के लिए हो रहे राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्तर के प्रयासों पर एक नजर डाली जाए। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मानवाधिकारों के संवर्धन और संरक्षण का जो आन्दोलन आज विश्व स्तर पर चल रहा है, उसके विकास पर एक नजर डाली जाये। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका विकास अभी हाल का ही है, किन्तु ऐसा नहीं है। इसकी जड़ें अतीत में हैं। प्राचीन काल से ही अधिकारों के लिए संघर्ष होता रहा है, यह अलग बात है कि "मानवाधिकार" शब्द का प्रयोग 1941 से पहले, जब **अमरीकी राष्ट्रपति रुजवेल्ट** ने किया था,[1] नहीं मिलता है।

[1] उन्नीकृष्णन बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य, ए.आई.आर., 1993 सु.को. 2178

यदि भारत में शिक्षा के अधिकार की जड़ों को ढूढ़ें तो देखते हैं कि प्राचीन भारत में शिक्षा समकालीन यूरोपियन देशों से ज्यादा विकसित थी। "अनिवार्य शिक्षा" की अवधारणा वैदिक काल में प्रभावी थी। **"मनुस्मृति"** में यह जोर देकर कहा गया है कि किसी भी समाज या देश को यह अनिवार्य कर देना चाहिए कि उसका प्रत्येक नागरिक 5 से 8 वर्ष की आयु को पूरा करते ही विद्या अध्ययन के लिए अनिवार्यतः विद्यालय को भेज दिया जाए। मनु ने "अनिवार्य शिक्षा" को इस हद तक समर्थन दिया कि उन्होंने निश्चित उम्र तक बच्चों को आश्रम (विद्यालय) न भेजने वाले अभिभावकों को कड़े से कड़े दण्ड देने की वकालत की।[2] भारत के अतिरिक्त ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ पर शिक्षा एवं शिक्षा पाने के अधिकार की विचारधारा इतनी प्राचीन हो। इतिहास पर गौर करें तो मुगलकाल में भी शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान देने के प्रमाण मिलते हैं। 1526 में भारत में मुगलकाल के प्रारम्भ के बाद शिक्षण संस्थाओं की संख्या में वृद्धि हुई। इस काल में शिक्षा को व्यवस्थित रूप में अनिवार्य करने का प्रावधान किया गया। शहाबुद्दीन गोरी पहला शासक था जिसने भारत में शिक्षा के उचित प्रबंध को "शासक का कर्तव्य" कहा। उसने शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना भी कराई। 132 वर्षों के मुगलकाल में शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान देने के प्रमाण मिलते हैं।

अंग्रेजी शासन काल में शिक्षा के प्रसार पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अंग्रेजों की सरकार ने **1919 के भारत सरकार अधिनियम** द्वारा कुछ अधिकार भारतीयों को सौंपे। उन अधिकारों में शिक्षा का अधिकार भी शामिल था। उसके बाद से ही भारतीय राजनेताओं द्वारा "अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा" के लिये कानून बनाने का सिलसिला शुरू हो गया जो आज भी बरकरार है।

शिक्षा का अधिकार एवं अन्तरराष्ट्रीय विधि

शिक्षा के अधिकार को राज्यों के विवेकाधिकार से हटाकर अनिवार्य बनाने हेतु अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर कई प्रयास हुए हैं। शिक्षा को मानवाधिकार के रूप में सबको उपलब्ध कराने की दिशा में पहला प्रयास **1948 की मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा** को माना जाता है।[1] इसके अतिरिक्त बाल अधिकारों से सम्बन्धित समस्त घोषणाओं में निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा पर जोर दिया गया है।

शिक्षा के अधिकार को प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य रूप से मान्यता दिलाने में **"1966 की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तरराष्ट्रीय**

[1] 16 जनवरी 1941 को अमरीकी राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने कांग्रेस को सम्बोधित करते हुए सर्वप्रथम "मानवाधिकार" शब्द का प्रयोग किया था, लेकिन उस समय उन्होंने मानवाधिकारों में शिक्षा के अधिकार का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।

[2] इस तथ्य का प्रमाण मनुस्मृति में वर्णित आश्रम व्यवस्था के अध्ययन से मिलता है। मनु ने मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया जिसमें से प्रथम "ब्रह्मचर्याश्रम" है। प्राचीन विधिसंहिताओं के अनुसार यह वर्गीकरण उस के आधार पर किया गया है। प्रथम अवस्था या आश्रम में रहकर व्यक्ति को उसकी मानसिक और शारीरिक क्षमता के अनुसार भविष्य में सामाजिक कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। मनुस्मृति के अध्याय दो में ब्रह्मचर्याश्रम से सम्बंधित आवश्यक उपबंध किया गया है।

प्रसंविदा" महत्वपूर्ण है।[1] इस प्रसंविदा के अनुच्छेद 2 में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य और सबके लिए उपलब्ध कराने की बात की गई है। मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा में किए गए प्रावधानों को मानते हुए यह कहा गया कि सबके लिए शिक्षा उपलब्ध कराने हेतु समुचित उपाय किए जाने चाहिएं। निःशुल्क शिक्षा इसी प्रयास का एक रूप है।

संयुक्त राष्ट्र की सहस्त्राब्दि घोषणा में 2015 तक पूरी दुनिया में प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौम बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। भारत का मानव विकास रिपोर्ट में 132वाँ स्थान है। ऐसे में भारत में शिक्षा के अधिकार की बात करते समय हमें व्यवहारिक दृष्टिकोण अपनाना होगा।

भारत में शिक्षा का अधिकार

स्वतत्र भारत के प्रथम शिक्षा मंत्री **मौलाना अबुल कलाम आजाद** ने 1948 में एक शिक्षा सम्मेलन में कहा था कि "बुनियादी शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है क्योंकि इसके बगैर वह बतौर नागरिक राष्ट्र के प्रति अपनी जिम्मेदारियां बखूबी नहीं निभा सकता।" लेकिन आज स्वतंत्रता प्राप्ति के 58 वर्ष बाद भी हम कहाँ हैं? हमारे देश में 30 करोड़ 50 लाख लोग आज भी निरक्षर हैं। सम्पूर्ण विश्व की निरक्षर जनसंख्या का आधा हिस्सा भारत में रहता है। भारत सरकार द्वारा प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क उपलब्ध कराने के लिए की जा रही तमाम कोशिशों के बावजूद हम शत–प्रतिशत साक्षरता से बहुत दूर हैं। 2001 की सरकारी जनगणना को मानें तो भारत में 65.38 प्रतिशत व्यक्ति साक्षर हैं। इस आँकड़ें को देखने के उपरान्त शिक्षा सम्बन्धी प्रावधानों एवं योजनाओं का पुनर्विलोकन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

संविधान निर्माताओं ने 1948 की मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान के अनुच्छेद 41, 45, और 46 में शिक्षा सम्बन्धी प्रावधान किया। तब शिक्षा को राज्य के नीति निदेशक तत्वों में रखा गया। गौरतलब है कि शिक्षा को "अधिकार" न बनाकर "राज्य का दायित्व" बनाया गया था। अनुच्छेद 41, 45 और 46 को देखें तो राज्य को यह निर्देश है कि वह अपनी सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर संविधान लागू होने से दस वर्ष के अन्दर शिक्षा के लिए आवश्यक शैक्षिक माहौल तैयार करें। इसके अतिरिक्त 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराए। वर्ष 2002 में संविधान–संशोधन करके 6 से 14 वर्ष

[1] इस घोषणा के अनुच्छेद 26 में यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार है। शिक्षा कम से कम प्रारंभिक और बुनियादी अवस्थाओं में निःशुल्क होगी। प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य होगी। तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा साधारण रूप से प्राप्त होगी और उच्चतर शिक्षा सभी को योग्यता के आधार पर समान रूप से उपलब्ध होगी।

[2] प्रसंविदा के अनुच्छेद 13 के अनुसार सभी राज्य पक्षकार यह स्वीकार करते है कि शिक्षा की दिशा व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास और मानव गरिमा की ओर होनी चाहिए तथा उसे मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति आदर को मजबूत करने के लिए होना चाहिए। इसके अतिरिक्त शिक्षा लोगों को सामर्थ्यवान बनाने वाली होनी चाहिए ताकि वे स्वतंत्र समाज में प्रभावकारी ढंग से भागीदार हो सकें।

की आयु के बच्चों को शिक्षा का अधिकार दिया गया और अनुच्छेद 45 में राज्य पर यह दायित्व डाला गया है कि 6 से कम आयु के बच्चों के सुरक्षित बचपन और शिक्षा का प्रबन्ध करे। यह कहना अनुचित होगा कि शिक्षा के लिए पिछले 58 वर्षों में कुछ नहीं किया गया परन्तु यह भी एक कड़वी सच्चाई है कि हमें अपेक्षित सफलता नहीं मिली है। अनुच्छेद 45 का निर्देश जिसे 10 वर्षों के भीतर पूरा किया जाना था, वह आज भी अधूरा है।

विधायिका जब इस निर्देश को पूरे करने में असमर्थ हो रही थी तब न्यायपालिका ने आगे आकर अनुच्छेद 45 के उद्देश्यों को पूरा करने का उत्साह दिखाया। अनुच्छेद 21 के अर्थान्वयन में न्यायपालिका ने मानवाधिकारों के प्रति कटिबद्धता दिखाई और शिक्षा के अधिकार को अनुच्छेद 21 (प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार) में अन्तर्निहित माना। सर्वप्रथम 1978 में दिल्ली उच्च न्यायालय[1] द्वारा शिक्षा के आधकार को अनुच्छेद 21 में शामिल माना गया।[2] दूसरा निर्णय 1986 में कर्नाटक उच्च न्यायालय[3] का था जिसमें अल्पसंख्यकों के शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार को अनुच्छेद 21 में अन्तर्निहित माना गया।

उच्चतम न्यायालय के सामने शिक्षा के अधिकार की बात **1992 में मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य**[4] के मामले में आयी। इसमें उच्चतम न्यायालय में यह निर्धारित किया कि शिक्षा पाने का अधिकार अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक का मूल अधिकार है। यह "प्राण के अधिकार" में सम्मिलित है। अतः प्रत्येक नागरिक को शिक्षा उपलब्ध कराना राज्य का संवैधानिक दायित्व है। उच्चतम न्यायालय के समक्ष दूसरा मामला 1993 में **उन्नीकृष्णन बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य**[5] का आया। इस मामले में मोहिनी जैन मामले के निर्णय का स्वागत करते हुए उसपर एक परिसीमा लगाई गई। इसमें शिक्षा के अधिकार को 6 से 14 वर्ष के बच्चों तक सीमित कर दिया गया और उच्च शिक्षा के मामले में शिक्षा के अधिकार को राज्य की आर्थिक क्षमता पर निर्भर माना गया।

मोहिनी जैन और उन्नीकृष्णन मामले के निर्णयों के बाद शिक्षा के अधिकार को प्राप्त करने के अभियान को गति मिल गई। तमाम अन्तरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं और राष्ट्रीय आयोगों की रिपोर्टों को ध्यान में रखते हुए 1997 में एक संविधान संशोधन विधेयक संसद में पेश हुआ जो अन्ततः 2002 में **86वाँ संविधान संशोधन अधिनियम** बना। इस संशोधन अधिनियम द्वारा एक नया अनुच्छेद 21–क[1] संविधान में जोड़ा गया और मूल कर्तव्यों की संख्या में एक वृद्धि की गई।[2] नीति निदेशक तत्वों में भी संशोधन हुआ और अनुच्छेद 45 में 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों को सुरक्षित बचपन और शिक्षा का प्रावधान करने हेतु राज्य को निर्देश दिया गया।[3] इस संशोधन की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह बाध्यकारी नहीं बल्कि निदेशात्मक है।

शिक्षाः "अधिकार" या "कर्तव्य"

यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि शिक्षा को "अधिकार" माना जाय या "कर्तव्य"? यदि इसे कर्तव्य माना जाए तो यह कर्तव्य किसका है?[6] शिक्षा को अधिकार कहना तब उचित होता है जब यह सबकी पहुंच में होती और इसे पाने या न पाने का विकल्प उपलब्ध होता। जब यह अनिवार्य रूप से सबको उपलब्ध कराई जानी है तो इसे अधिकार नहीं वरन् दायित्व के नजरिए से देखना ठीक होगा। अगर हम अधिकार की नजर से देखेंगे तो यह अभिभावकों पर निर्भर करेगा कि वह अपने बच्चों को विद्यालय भेजें या नहीं। इसलिए इसे कर्तव्य की नजर से देखते हुए समस्त अभिभावकों को अनिवार्यतः अपने बच्चों को विद्यालय भेजने की बात करनी होगी।[7]

कुछ लोगों के मत में यह अधिकार से कर्तव्य की तरफ नहीं, वरन् कर्तव्य से अधिकार की तरफ रुख है। प्राचीन काल से शिक्षा को कर्तव्य के रूप में माना गया है परन्तु आज कल्याणकारी राज्य की संकल्पना और मानवाधिकारों के प्रति वचनबद्धता के बाद शिक्षा को अधिकार के नजरिए से देखना ही ठीक होगा। शिक्षा के स्तर व शैक्षिक संस्थाओं की स्थिति आदि में मानवाधिकार की पहुंच के साथ ही यह कर्तव्य से अधिकार की ओर मुड़ जाता है।[8]

अगर हम उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गयी "अधिकार" की अवधारणा को देखें तो दोनों विचारधाराएं विपरीत नहीं लगती। **राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ**[9] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि 'विधिक अधिकार' एवं 'विधिक कर्तव्य' एक–दूसरे के पूरक हैं और अधिकार को उस "हित" के रूप में देखना चाहिए जिसे तत्सम्बंधी कर्तव्य आरोपित करके विधि द्वारा संरक्षित किया जाता है। दूसरे शब्दों में अधिकार वे सामाजिक परिस्थितियां हैं जिनके बगैर मनुष्य अपना सम्पूर्ण विकास नहीं कर सकता। हम यह कह सकते हैं कि अधिकार वह व्यवहार है जो हम किसी से अपने लिए चाहते हैं और दूसरा हमसे चाहता है। अर्थात् एक का अधिकार दूसरे का कर्तव्य है। अब हमें यह देखना चाहिए कि शिक्षा के अधिकार का कर्तव्य किस पर अधिरोपित है।

सर्वप्रथम, यह राज्य का दायित्व बनता है कि वह शिक्षा हेतु आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध कराए और यह भी ध्यान रखे कि राज्य में शिक्षा हेतु उपयुक्त माहौल

---

[1] ए.वी. चन्देल बनाम् डेलही यूनिवर्सिटी, ए.आई.आर. 1978 डेलही, 306

[2] ए.वी. चंदेल मामले में शिक्षा के अधिकार को अनुच्छेद 21 में शामिल माने जाने के तीन कारण उच्च न्यायालय ने बताए। प्रथम, अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार विधियां शिक्षा को मूल अधिकार मान रही थी। द्वितीय, अनुच्छेद 41 शिक्षा के अधिकार की बात करता है। भले ही यह राज्य का नीति निदेशक तत्त्व है। तृतीय, संविधान लिखे जाने के समय शिक्षा का अधिकार मूल अधिकारों की श्रेणी में लिखा जा रहा था। परन्तु भारत की आर्थिक, सामाजिक स्थिति उस समय शिक्षा के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में उपलब्ध कराए जाने योग्य नहीं थी। इसलिए इसे नीति निदेशक तत्वों में शामिल किया था।

[3] बापूजी एजुकेशन एसोसिएशन बनाम् कर्नाटक राज्य, ए.आई.आर. 1986 कर्नाटक, 129

[4] ए.आई.आर. 1992 सु.को. 1858

[5] ए.आई.आर. 1993 सु.को. 2178

उपलब्ध हो। शिक्षा का स्तर और उद्देश्य भी राज्य द्वारा तय होना चाहिए। शिक्षकों की योग्यता और शिक्षा की विषय–वस्तु का ध्यान रखा जाना भी आवश्यक है। परन्तु साथ ही समाज के प्रत्येक व्यक्ति का यह दायित्व है कि वह अपने बच्चों को विद्यालय भेजें। संविधान में 1976 में 42वें संविधान संशोधन द्वारा शिक्षा को समवर्ती सूची में लाया गया। समवर्ती सूची की 25वीं प्रविष्टि के अनुसार शिक्षा का दायित्व राज्य तथा केन्द्र सरकार दोनों पर है। इतना ही नहीं 86वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2002 के द्वारा भारतीय नागरिकों पर भी शिक्षा सम्बंधी दायित्व डाला गया, क्योंकि बच्चों को शिक्षित करने और उन्हें प्रबुद्ध नागरिक बनाने में माता–पिता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अनुच्छेद 51–क (ट) में माता–पिता एवं अभिभावकों का यह कर्तव्य माना गया है कि 6 से 14 वर्ष आयु के बच्चों को शिक्षा का अवसर प्रदान करें। परन्तु इन प्रावधानों को प्रभावकारी रूप से लागू करने के लिए नागरिकों में अपने संवैधानिक अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति जागरूकता लानी आवश्यक है और ऐसा शत–प्रतिशत साक्षरता के बिना असम्भव है।

इस प्रकार शिक्षा किसी एक व्यक्ति या संस्थान का दायित्व न होकर एक ऐसी जिम्मेदारी है, जो सरकार एवं समाज, दोनों की है ताकि प्रबुद्ध नागरिकों का निर्माण हो सके जो एक समृद्ध, खुशहाल और मजबूत राष्ट्र का निर्माण करें।

सरकारी प्रयास

भारत सरकार ने पूर्ण साक्षरता के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए संविधान लागू होने के बाद से ही कई योजनाएं शुरू की जिनका परिणाम है कि मध्यम गति से ही, परन्तु साक्षरता प्रतिशत में वृद्धि हो रही है।[1] अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पूर्ण साक्षरता के लिए 2015 का लक्ष्य रखा गया है। प्रश्न यह है कि क्या हमारी योजनाएं निर्धारित समय में इस उद्देश्य को पूरा करने में सक्षम हैं? अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए भारत सरकार के **"सर्वशिक्षा अभियान"** का उद्देश्य है कि 2010 तक आठवीं कक्षा तक की संतोषजनक शिक्षा सबको निःशुल्क उपलब्ध करा दी जाए। इसी तरह **"शिक्षा आपके द्वार"** योजना के तहत 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा से जोड़ने का सघन अभियान चलाया जा रहा है।

[1] अनुच्छेद 21–क यह उपबंधित करता है कि 'राज्य ऐसी रीति से जैसा कि विधि बनाकर निर्धारित करे 6 से 14 वर्ष की आयु के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध करेगी।

[2] अनुच्छेद 51–क (ट) के अनुसार 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों के माता–पिता एवं अभिभावकों का कर्तव्य होगा कि उन्हें शिक्षा का अवसर प्रदान करें।

[3] अनुच्छेद 45 में यह संशोधन इसलिए हुआ क्योंकि 6 से 14 वर्ष के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा अनुच्छेद 21–क में उपलब्ध कराने का प्रावधान हुआ है।

[4] "आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा, 1966" में शिक्षा के अधिकार को मानवाधिकार मानते हुए यह कहा गया है कि कोई भी अभिभावक या राज्य शिक्षा को वैकल्पिक रूप में नहीं लेगा। प्राथमिक शिक्षा हर बच्चे को अनिवार्यतः उपलब्ध होनी चाहिए। इस प्रसंविदा के बाद ही अंतरराष्ट्रीय स्तर पर यह बहस शुरू हो गयी कि "शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार" है या "शिक्षा प्रदान करने का दायित्व"।

[1] "वीनर एवं नोमैन", द चाइल्ड एण्ड स्टेट्स इन इंडिया एण्ड पाकिस्तानः चाइल्ड लेबर एण्ड एजुकेशनल पॉलिसीज इन कम्पेटिव परस्पेक्टिव, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची (1995)

संवैधानिक निर्देशों के बावजूद सभी राज्य सरकारें शिक्षा को लेकर जागरूक नहीं हैं। सिर्फ 15 राज्यों और 4 संघ राज्य क्षेत्रों[2] में शिक्षा सम्बंधी अधिनियम बने हैं लेकिन कानून बनने और उसे लागू होने के बीच का सफर लगातार बढ़ता जा रहा है पूर्ण साक्षरता के मार्ग में केवल आर्थिक परिस्थितियां ही बाधक नहीं हैं। इसका प्रमाण केरल की साक्षरता प्रतिशत से लगाया जा सकता है। केरल भी अन्य राज्यों की तरह एक कृषि प्रधान राज्य है। लेकिन 2001 की जनगणना के अनुसार वहां साक्षरता प्रतिशत 90.92 प्रतिशत है। दूसरी ओर बिहार है, सबसे पिछड़ा राज्य, जहां मात्र 47.53 प्रतिशत व्यक्ति साक्षर हैं।

केरल के साक्षरता प्रतिशत एवं आर्थिक स्थिति को देखने से लगता है कि राज्य सरकारों को शिक्षा सम्बंधी योजनाएं बनाने से ज्यादा, जो योजनाएं बनी हैं उनको सही तरीके से लागू कराने पर ध्यान देना चाहिए।

शिक्षा के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण अध्ययन "शिक्षा आयोग"[1] द्वारा किया गया जिसकी रिपोर्ट 1966 में प्रस्तुत की गयी। इस रिपोर्ट में सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करने की सिफारिश की गयी परन्तु संसाधनों के अभाव में यह आज तक सम्भव नहीं हो पाया है।

वर्तमान सरकार ने शिक्षा पर सरकारी व्यय बढ़ाने सम्बंधी अपना वायदा पूरा करने के लिए सबसे पहले प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही करों पर 2 प्रतिशत की दर से उपकर लगाया है। इससे एकत्र निधि को बुनियादी शिक्षा निधि में रखा जाएगा जिससे प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूलों के विकास को वित्त पोषित किया जाएगा। यह एक सराहनीय कदम है। परन्तु यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि इस निधि का सही दिशा में उपयोग हो। शिक्षा सम्बंधी एक केन्द्रीय अधिनियम की कमी काफी समय से महसूस की जा रही है।

पिछले दिनों **केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (केब)** की बैठक में शिक्षा सम्बंधी रिपोर्टों पर बहस हुई। इसमें मुंगेकर समिति की रिपोर्ट में भी शिक्षा आयोग द्वारा कही बात का समर्थन किया गया है। इस रिपोर्ट में भी शिक्षा का बजट सकल घरेलू उत्पाद के 6 प्रतिशत करने के साथ ही अमीर वर्ग पर कुछ नए कर लगाने का भी प्रस्ताव है। केब की रिपोर्टों में महत्वपूर्ण रिपोर्ट **सिब्बल समिति** द्वारा तैयार **मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा विधेयक** है।[2] इसमें पब्लिक स्कूलों में 25 प्रतिशत गरीब बच्चों को दाखिला देने की सिफारिश की गयी है। केब के अन्य सदस्यों का मत है कि इस विधेयक में मुफ्त शिक्षा की जिम्मेदारी अनिवार्य रूप से सरकार पर नहीं है। वस्तुतः शिक्षा के अधिकार को उपलब्ध कराने का दायित्व समाज और सरकार दोनों का है। आज

[1] कैटरीना टोमावस्की, प्रोफेसर ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, स्वीडन, इण्टरव्यू इन ह्यूमन राइट्स फीचर्स, 5–12 अप्रैल, 2004

[2] ए.आई.आर. 1977 सु.को.1361

के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में इस दायित्व का मिलकर निर्वहन अत्यन्त आवश्यक है। यह जरूर है कि शिक्षा को बाजारीकरण से बचाया जाए।

निजीकरण और वाणिज्यीकरण का प्रभाव

पूरे देश में निजी कम्पनियों और औद्योगिक घरानों ने शिक्षा को लाभकारी उद्यम समझते हुए इसमें प्रवेश करना शुरू कर दिया है। यहां शिक्षण संस्थाएं लाभकारी उद्योग बन रही हैं। उच्च शिक्षा में इनका प्रवेश ज्यादा हो रहा है। क्योंकि भारत में युवाओं की आबादी अधिक है। मानव संसाधन मंत्रालय की रिपोर्ट से जो आंकड़े सामने आते हैं उनके अनुसार पिछले पांच दशकों में प्राथमिक और उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में क्रमशः 15 गुना और 17 गुना वृद्धि हुई है। आंकड़ों के अनुसार वर्ष 1950–51 में 27 विश्वविद्यालय थे जिनकी संख्या 2000–2001 में 254 हो गयी। 1950–51 में व्यावसायिक शिक्षा देने वाले संस्थान 208 और सामान्य शिक्षा देने वाले संस्थान 370 थे। 2000–2001 में इनकी संख्या अलग–अलग 2223 से ज्यादा हो गयी।

शिक्षा के वाणिज्यीकरण पर नियंत्रण रखने हेतु निजी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना एवं प्रशासन सम्बंधी स्पष्ट कानून जरूरी है। उच्चतम न्यायालय ने **मोहिनी जैन के मामले**[1] में कहा था कि भारतीय सभ्यता के इतने सशक्त एवं सम्पन्न होने के पीछे सच्चाई यह है कि यहां शिक्षा को सदैव पुण्य कार्य एवं धर्मार्थ माना गया। निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा पर अलग–अलग काल में अलग–अलग तरीके से काम जरूर किया गया। परन्तु भारत में शिक्षा कभी भी बिकाऊ वस्तु नहीं रही। मोहिनी जैन को 60,000 रुपए फीस न दे सकने के कारण प्रवेश देने से इन्कार कर दिया गया था। उच्चतम न्यायालय ने शैक्षिक संस्थाओं द्वारा कैपिटेशन फीस लिए जाने को शिक्षा के अधिकार का उल्लंघन माना और कहा कि इसके कारण योग्य निर्धन छात्र शिक्षा से वंचित रह जाते हैं और उससे कम योग्य परन्तु अमीर छात्र शिक्षा प्राप्त कर लेता है। इसलिए शैक्षिक संस्थाओं द्वारा कैपिटेशन फीस लिया जाना असंवैधानिक है।

इस निर्णय के उपरांत **उन्नीकृष्णन बनाम् आन्ध्र प्रदेश**[2] राज्य का मामला आया। जिसमें कॉलेजों के प्रबंधकों ने मोहिनी जैन मामले में दिए गये निर्णय पर पुनर्विचार करने के लिए आवेदन किया। तब उच्चतम न्यायालय ने मोहिनी जैन मामले के निर्णय में संशोधन करते हुए कहा कि कैपिटेशन फीस हर परिस्थिति में असंवैधानिक नहीं है। शिक्षा की दिशा में जिस दर से प्रगति आवश्यक है, वह सिर्फ सरकारी शैक्षिक संस्थाओं से ही पूरी नहीं की जा सकती। शिक्षा के लिए निर्धारित उद्देश्य को पूरा करने के लिए

[*] 1951 में साक्षरता 18.33 प्रतिशत थी, 1961 में 28.30 प्रतिशत, 1971 में 34.45 प्रतिशत, 1991 में 52.21 प्रतिशत और 2001 की सरकारी जनगणना के अनुसार हमारे देश में 65.38 प्रतिशत व्यक्ति साक्षर हैं।

[**] असम, मध्यप्रदेश, बिहार, गोवा, गुजरात, हरियाणा, जम्मू–कश्मीर, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, केरल, पश्चिम बंगाल, चण्डीगढ़, दिल्ली, पाण्डिचेरी एवं अण्डमान–निकोबार द्वीप समूह।

निजी शैक्षिक संस्थाओं को अनुमति देना उचित है और यकीनन ऐसे कॉलेजों को सुचारु रूप से चलाने के लिए सरकारी कॉलेजों से कुछ ज्यादा फीस लेनी पड़ सकती है। परन्तु इसकी निगरानी होनी चाहिए कि ये संस्थाएं शिक्षा का वाणिज्यीकरण न कर सकें और इसके लिए उन पर उचित नियंत्रण रखा जाए। राज्य को उनके द्वारा ली जाने वाली फीस तय करनी चाहिए। उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा कि राज्य की अनुमति से ली जाने वाली फीस कैपिटेशन फीस नहीं है। इस मामले में न्यायालय ने निजी शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश और सीट निर्धारण आदि के विषय में विस्तृत नियम बनाए जिन्हें लागू करके शिक्षा के वाणिज्यीकरण को रोका जा सकता है। लेकिन उन्नीकृष्णन मामले में कैपिटेशन फीस पर दिए गये निर्णय को **टी.एम.ए.पाई. फाउण्डेशन बनाम कर्नाटक राज्य**[1] के मामले में उलट दिया गया और इसके बाद आने वाले लगभग सभी निर्णयों में निजी शैक्षिक संस्थाओं की स्वायत्तता को अतिरिक्त बढ़ावा दिया जा रहा है। ये निर्णय शिक्षा को वाणिज्यीकरण की तरफ धकेलने के कारण सराहनीय नहीं कहे जा सकते।

भारत में आज भी बुनियादी जरूरतें एक चुनौती बनी हुई हैं ऐसे में ये निर्णय समाज को धनी व गरीब दो श्रेणियों में बांटने में मददगार होंगे और जिस शिक्षा के अधिकार की हम बात कर रहे हैं, वह सबको समान रूप में नहीं मिल सकेगी। जब तक हम सम्पूर्ण साक्षरता प्राप्त नहीं कर लेते तब तक उन्नीकृष्णन का निर्णय ही हमारे समाज में उपयुक्त है। शिक्षा के वाणिज्यीकरण को रोकना समय की मांग है। हमारा देश अपनी परंपरा के अनुरूप एक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था का एक ऐसा ढांचा तैयार करने पर ही टिक सकता है जिसमें सरकार और जनता का सामंजस्य हो। इसके स्वरूप को निश्चित कर उसे सार्थकता प्रदान करने वाली नीति ही सच्चे अर्थों में भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति हो सकती है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि शिक्षा, मानव गरिमा को बनाए रखते हुए मानवाधिकारों के प्रति वचनबद्धता और विश्वास को कायम करती है। संविधान लागू होने के 55 वर्षों बाद भी हम शिक्षा के क्षेत्र में अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर पाए हैं परन्तु शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाया जाना निश्चित रूप से एक महत्वपूर्ण कदम है। यूनीसेफ की रिपोर्ट को मानें तो अब पहले से ज्यादा बच्चे स्कूल जा रहे हैं। परन्तु 39 प्रतिशत बच्चे 5वीं तक और 55 प्रतिशत बच्चे 8वीं तक पढ़ाई छोड़ देते हैं। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए विद्यालयों के आधारभूत ढांचे में सुधार बेहद जरूरी है। खासतौर पर जबकि 6 से 14 वर्ष के बच्चों को शिक्षा का अधिकार संविधान से

[1] शिक्षा आयोग का गठन भारत सरकार द्वारा 1964 में किया गया जिसके अध्यक्ष डॉ. डी. एस. कोठारी थे, उनके नाम पर इसे कोठारी आयोग भी कहा जाता है।

[2] केस में इस रिपोर्ट पर आम सहमति नहीं बन पाई है।

प्राप्त है लेकिन इस अधिकार को सुलभ कराने के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा अधिनियम को शीघ्र लागू किया जाना चाहिए।

भारत में गरीबी के कारण बहुत से बच्चे विद्यालयों से दूर हैं। इस परिस्थिति में विद्यालयों के समय काल को उनके अनुरूप बनाया जाना चाहिए, जैसे कि जो बच्चे दिन में काम कर रहे हैं उन्हें शाम को शिक्षा दी जाए। लड़कियां सुबह–शाम घरों में काम करती रहती हैं। उन्हें दिन में शिक्षा उपलब्ध कराई जाय। बालश्रम की समाप्ति इस दिशा में अत्यंत मददगार होगी। बच्चों को स्कूल जाने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए शिक्षा किताबी न होकर व्यावहारिक होनी चाहिए।

इस समय शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 4 प्रतिशत खर्च किया जा रहा है। चूंकि सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में शिक्षा पर वास्तविक सार्वजनिक व्यय का हमारी साक्षरता पर सीधा असर होता है, शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत भाग खर्च करने के शिक्षा आयोग और केंब के सुझाव पर तत्काल अमल होना चाहिए। यदि हमें शत–प्रतिशत साक्षरता प्राप्त करनी है तो शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 6 से 7 प्रतिशत व्यय जरूर करना होगा। कुछ वर्षों तक लगातार शिक्षा पर व्यय बढ़ाना आवश्यक है। शत–प्रतिशत साक्षरता प्राप्त कर लेने के बाद भविष्य में शिक्षा का स्तर कायम रखने के लिए कम बजट भी पर्याप्त होगा। फिलहाल यह भी स्पष्ट है कि शिक्षा के लिए अपेक्षित बजट अभी सरकार उपलब्ध नहीं करा पाई है। ऐसे में यह जरूरी है कि अतिरिक्त संसाधनों पर भी विचार किया जाए। उदाहरण के लिए शिक्षा के क्षेत्र में गैर–सरकारी संगठनों को अवसर दिया जाए। निजी शैक्षिक संस्थाओं को भी बढ़ावा दिया जाए परन्तु इन पर कड़ी नजर रखना जरूरी है। अन्यथा ये मानवाधिकार प्राप्त कराने के साधन के बजाए मानवाधिकार हनन का केन्द्र बन जाएंगे। फीस ज्यादा लेकर अभिभावकों का शोषण, उचित शिक्षा व्यवस्था न होने पर विद्यार्थियों का शोषण और कम तनख्वाह देकर अध्यापकों का शोषण शुरू हो रहा है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए निजी शिक्षण संस्थाओं को उचित नियंत्रण के साथ बढ़ावा देकर शिक्षा के वाणिज्यीकरण को रोकते हुए शिक्षा के अधिकार को प्राप्त करने का प्रयास होना चाहिए। **निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा अधिनियम, 2005** इस दिशा में सही समय पर एवं सही दिशा में उठाया गया एक सराहनीय कदम है। आवश्यकता इस बात की है कि इसे शीघ्रातिशीघ्र लागू कर कार्यरूप दिया जाय।

[*] मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य, ए.आई.आर. 1992 सु.को. 1858
[**] ए.आई.आर. 1993 सु.को. 2178

प्रतिवेदन

• राकेश रेणु

उद्घाटन सत्र के मुख्य अतिथि वरेण्य साहित्यिक समालोचक प्रो. नामवर सिंह ने अपने लगभग–लगभग बीज भाषण में, लगभग इसलिये कि उनका वक्तव्य घोषित रूप से बीज भाषण न होने के बावजूद बीज भाषण सरीखा जैसा ही था, क्योंकि आदरणीय नामवर जी प्रायः अपनी बात सूत्र वाक्यों में कहते हैं जिनका विश्लेषण लंबे समय तक विद्वत समाज करता रहता है, और उद्घाटन सत्र में भी ऐसा ही हुआ। नामवर जी ने अपने वक्तव्य में कहा कि "आमतौर पर माना जाता है कि भारत में मानवाधिकारों की लंबी परंपरा रही है, लेकिन यह एक सच्चाई है कि कानून–व्यवस्था अंग्रेजी शासन की ही देन है। उसके पहले राजा की मर्जी सर्वोपरि होती थी। इस तरह 'हमारे यहां सब कुछ है', के जुमले से हमें बचना चाहिए। मानव अधिकार की अवधारणा भारत में एक नवीन अवधारणा है। इस अवधारणा को प्रसारित करने का श्रेय राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को जाता है, जो इस बारे में लोगों को जागरूक कर रहा है"।

आयोग की हिंदी पत्रिका 'मानवाधिकार : नयी दिशाएँ' की चर्चा करते हुए प्रो. नामवर सिंह ने कहा कि मानव अधिकारों को जानने की सबसे अधिक जरूरत जनजातीय लोगों, दलितों और वंचितों को है। इसलिये आयोग को मानव अधिकार संबंधी अधिकाधिक पुस्तकें न केवल हिंदी में, बल्कि अन्य सभी भारतीय भाषाओं में भी प्रकाशित करनी चाहिए।

प्रो. नामवर जी ने आगे कहा कि मानव अधिकार केवल कानूनी लड़ाई, कचहरी, वकीलों और जजों तक सीमित विषय नहीं है; यह एक संस्कृति है। जैसे लोकतंत्र एक राजनीतिक व्यवस्था भर नहीं, बल्कि एक संस्कृति है। यह दोनों ही संस्कृतियां व्यक्ति व परिवार के आचार–व्यवहार में, आपसी संबंधों में शामिल होनी चाहिए। उन्होंने रेखांकित किया कि आज जरूरत मानव अधिकार और लोकतंत्र की संस्कृति को मजबूत बनाने की है।

सत्र की अध्यक्षता करते हुए आयोग के सदस्य श्री पी.सी. शर्मा ने कहा कि मानव अधिकार के केंद्र में मानव अस्तित्व और उसके सातत्य का भाव निहित है। उन्होंने बताया कि स्थापना के बाद से ही आयोग का लक्ष्य शोषित, वंचित, उपेक्षित लोगों को उनके अधिकारों से अवगत कराना और नीति निर्माताओं को उनकी अपेक्षाओं और जरूरतों से अवगत कराना रहा है। श्री शर्मा ने महात्मा गांधी का उल्लेख करते हुए कहा कि इनमें मानव अधिकार की समुचित चर्चा की गई है, लेकिन उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि भारतीय संस्कृति में मानव अधिकारों की समृद्ध परंपरा के बावजूद

• संपादक, योजना

वर्तमान समय में उनके बारे में लागों को जागरूक करने का इतिहास बहुत पुराना नहीं है।

श्री शर्मा ने मुख्य अतिथि प्रो. नामवर सिंह को आश्वस्त किया कि भारतीय भाषाओं में पुस्तक प्रकाशन की दिशा में आयोग प्रयासरत है। उन्होंने मानव अधिकार पर दिल्ली से बाहर भी गोष्ठियां आयोजित करने का आह्वान किया।

संगोष्ठी की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए आयोग के सहायक निदेशक सरोज कुमार शुक्ल ने कहा कि समकालीन युग में किसी राष्ट्र की चेतना इस बात में निहित है कि वह मानव अधिकारों के प्रति कितना सचेत रहा है। भारत के जन–जन तक मानव अधिकारों की जानकारी पहुंचाना आयोग का उद्देश्य है। उन्होंने कहा कि इस संगोष्ठी से हासिल निष्कर्षों से मानव अधिकारों के प्रति हमारी दृष्टि और पैनी होगी और हम भारतीय संस्कृति में पसरी इसकी जड़ों से अवगत हो पाएंगे।

संगोष्ठी की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए आयोग के सहायक निदेशक सरोज कुमार शुक्ल ने कहा कि समकालीन युग में किसी राष्ट्र की चेतना इस बात में निहित है कि वह मानव अधिकारों के प्रति कितना सचेत रहा है। भारत के जन–जन तक मानव अधिकारों की जानकारी पहुंचाना आयोग का उद्देश्य है। उन्होंने कहा कि इस संगोष्ठी से हासिल निष्कर्षों से मानव अधिकारों के प्रति हमारी दृष्टि और पैनी होगी और हम भारतीय संस्कृति में पसरी इसकी जड़ों से अवगत हो पाएंगे।

उद्घाटन सत्र में मुख्य अतिथि तथा अध्यक्ष के हाथों आयोग द्वारा हिंदी में प्रकाशित तीन रिपोर्टों, क्रमशः 'अनुसूचित जातियों के प्रति अत्याचार निवारण रिपोर्ट,' 'मानव अधिकार और एच आई वी/एड्स' तथा 'अपने अधिकार जानें' पुस्तिका श्रृंखला का लोकार्पण भी किया गया। सत्र के अंत में आयोग के उप महानिरीक्षक सुधीर चौधरी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

उद्घाटन सत्र के उपरांत पहला अकादमिक सत्र आरंभ हुआ जिसका विषय था **'सार्वभौमिक भ्रातृत्व एवं मानव अधिकार की अवधारणा'**। इस सत्र की अध्यक्षता आयोग के सदस्य न्यायमूर्ति डॉ. शिवराज वी0 पाटील ने की। सत्र के पहले वक्ता की हैसियत से संस्कृत साहित्य के उद्भट विद्वान प्रो. वी. कुटुंब शास्त्री ने वैदिक, पौराणिक और स्मृतिकालीन संस्कृत साहित्य के आधार पर भारतीय मानस और संस्कृति में मानव अधिकारों के सम्मिलन पर केंद्रित व्याख्यान दिया। उन्होंने कौटिल्य के मूल उद्धरण से स्थापित किया कि भारतीय संस्कृति में प्रजा के हित को सर्वोपरि माना गया था।

'ऋग्वेद' के श्लोक का उदाहरण देकर उन्होंने बताया कि सभी मनुष्य एक समान हैं, उनमें कोई छोटा या बड़ा नहीं। कालिदास कृत 'रघुवंशम्' से उदाहरण लेकर प्रो. शास्त्री ने प्रो. नामवर सिंह के इस वक्तव्य की पुष्टि की कि न केवल मनुष्य, बल्कि

पशु–पक्षियों के, प्राणिमात्र के भी अधिकार होते हैं। उन्होंने बताया कि अतीत में जब–जब मानव अधिकारों का हनन हुआ तो उसके प्रतिकार में युद्ध भी हुए। 'महाभारत' भी इसी का परिणाम था। अर्जुन ने द्रोण और भीष्म का वध किया तो इसलिये कि वे स्त्री गरिमा के हनन के साक्षी बने और प्रकारांतर से उसका अनुमोदन किया था।

दूसरे वक्ता के रूप में प्रो0 गिरीश्वर मिश्र ने कहा कि विगत 5–6 दशकों के दौरान मानव अधिकारों की चेतना का प्रसार अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हुआ है तथा इसके नैतिक मानकों की स्वीकृति बनी है। उन्होंने कहा कि भारत का सामाजिक परिदृश्य काफी जटिल है। इसे समझने की जरूरत है। व्यक्ति और समष्टि का भेद भारतीय संस्कृति नहीं करती। समष्टि में ही व्यष्टि का बोध निहित रखा गया है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' में वसुधा व्यक्ति को समग्र से जोड़ने पर बल है। प्रो. मिश्र ने कहा कि अधिकार पाने के लिए समूचे समाज को इसका पात्र बनना पड़ेगा। अपने कर्तव्यों की पूर्ति करके ही हम इनके पात्र बन सकते हैं।

श्री मदन गुप्त की दृष्टि में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर गांधीवाद एकमात्र ऐसा दर्शन है जो सार्वभौम मानव अधिकारों को स्थापित करता है। उन्होंने कहा कि समस्त भारतीय साहित्य ने समता के आचरण को सराहा है। मानव अधिकारों के लिए समता और भ्रातृत्व भाव अनिवार्य हैं।

आई. पी. एस. अधिकारी श्री एस. एन. साबत ने कहा कि विश्व एक घोंसले की तरह है। अनंत मस्तक और अनंत नेत्रों वाला यह विश्व पुरुष वस्तुतः एक समाज पुरुष है। उन्होंने 'गीता' का उल्लेख करते हुए कहा कि स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार मिलने चाहिए। राजा राममोहन राय की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि राममोहन राय ने मानवतावादी बनने पर जोर दिया था। इसलिये व्यावहारिक रूप में जो व्यवहार हम अपने साथ नहीं चाहते, वह दूसरों के साथ भी न करें।

अध्यक्ष के आसन से बोलते हुए न्यायमूर्ति डॉ0 शिवराज वी. पाटील ने कहा कि दायित्व से और कर्म से अधिकार मिलते हैं। इसलिये सत्कर्म पहली आराधना है। उन्होंने कहा कि समस्त धर्मग्रंथों में पंचतत्व ही मानव अधिकार हैं। वस्तुतः मानव अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। गांधी जी का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि इसके लिये पहले हृदय परिवर्तन होना चाहिए।

श्रीमती ममता सिंह, वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

'विभिन्न धर्मों में मानव अधिकार की अवधारणा' विषय पर केंद्रित दूसरे अकादमिक सत्र की अध्यक्षता आयोग के सदस्य श्री पी.सी. शर्मा ने की।

इस सत्र के पहले वक्ता थे जामिया मिलिया इस्लामिया के प्रो. अख्तर–उल–वासे। श्री वासे ने इस्लाम में मानव अधिकारों की चर्चा करते हुए कहा कि मुस्लिम आस्था का अभिन्न अंग अल्लाह, किसी एक वर्ग का नहीं, बल्कि सर्वव्यापी है। उन्होंने कहा कि सृष्टि के रचयिता ने मानव की पीड़ा बांटने के लिये इंसान को पैदा किया। इस्लाम में स्त्री जाति की गरिमा का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि बेटियां मां–बाप और जहन्नुम के बीच दीवार बन जाती हैं।

सिक्ख धर्म में मानव अधिकार की चर्चा करते हुए श्रीमती प्रीति कपूर ने कहा कि सिक्ख विचारधारा रूढ़िवादिता के खिलाफ है। ईश्वर के दरबार में कोई जाति नहीं होती। जाति जानी जाती है कर्म से। उन्होंने कहा कि सिख धर्म में नारी का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि नारी हमारी संगिनी, मित्र और परिवार की धुरी होती है।

डा. एम.डी. थॉमस ने 'ईसाई धर्म में मानव अधिकार' की चर्चा करते हुए कहा कि मानवता मनुष्य के गुणों का प्रतीक है। अधिकार के प्रसंग में कर्तव्य की भूमिका महत्वपूर्ण है। कोई किसी का शोषण न करे, हीन भावना से न देखे। 'बाइबल' कहता है कि इंसानों के बीच समभाव होना चाहिए। समभावपूर्ण व्यवहार ही समता की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

डॉ. बुद्धरश्मि मणि ने बौद्ध धर्म में मानव अधिकारों का उल्लेख करते हुए बताया कि अशोक के शिलालेखों में बौद्ध धर्म में मानव अधिकारों का विवरण मिलता है।

जैन धर्म में मानव अधिकार पर प्रकाश डालते हुए प्रो. प्रेम सुमन जैन ने कहा कि जैन धर्म में कर्म का महत्व है, क्योंकि कर्म के आधार पर ही मनुष्य की स्वतंत्रता संभव है। अन्य धर्मों की तरह जैन धर्म में भी अधिकारों के साथ–साथ कर्तव्यपालन पर जोर दिया गया है। इन कर्तव्यों को चार प्रकार के दान के रूप में वर्णित किया गया है। ये हैं–औषधि दान, ज्ञानदान, अन्नदान तथा अभयदान।

सत्र के अध्यक्ष श्री पी.सी. शर्मा ने निचोड़ प्रस्तुत करते हुए कहा कि विश्व के सभी प्रमुख धर्मों में मानव अधिकारों की वकालत की गई है। लेकिन यह भी सच है कि मानव अधिकारों का सर्वाधिक हनन धर्म के नाम पर ही हुआ है। उन्होंने कहा कि मानव अधिकारों का उत्स मानवता है। इसके बिना मानव अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं।

आयोग में कार्यरत वरिष्ठ पुलिस अध्यक्ष श्री महेंद्र सिंह मलिक ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

तीसरा अकादमिक सत्र संगोष्ठी के दूसरे दिन का पहला सत्र था। यह सत्र 'भारत में मानव अधिकार की शिक्षा का महत्व' विषय पर केंद्रित था। सत्र की अध्यक्षता दिल्ली विश्वविद्यालय के विधि संकाय के पूर्व अध्यक्ष प्रो. बी.बी. पांडे ने की। प्रो. पांडे ने विषय प्रवर्तन करते हुए कहा कि भारतीय संस्कृति में अधिकारों को कर्तव्य के साथ

रखा गया है। लेकिन किसका कर्तव्य और किसके अधिकार। यह संभव नहीं कि एक वर्ग कर्तव्य ही कर्तव्य करता रहे और दूसरा वर्ग अधिकार ही अधिकार भोगता रहे। इसलिये इसे पुनर्व्यवस्थित करने की जरूरत है। दूसरी बात, भारतीय संस्कृति में शिक्षा का महत्व है। उसे मानव अधिकारों से मिलाया नहीं जाना चाहिए।

सत्र की पहली वक्ता श्रीमती लक्ष्मी सिंह ने लाला लाजपतराय और नेताजी सुभाष चंद्र बोस के हवाले से शिक्षा के उद्देश्यों को रेखांकित किया। उन्होंने आधुनिक युग में अंतरराष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों को सांस्थानिक स्वीकृति मिलने का क्रमिक वर्णन किया। उन्होंने मानव अधिकारों के लिये शैक्षिक पाठ्यक्रम के लिये कुछ संकेत बिंदु सुझाए। उन्होंने कहा कि स्कूली शिक्षा मानवतावाद की वैज्ञानिक सोच पर आधारित हो, यह आत्मनिर्भरता और हेतु रहित दया सिखाए। उन्होंने अच्छी शिक्षा को मानव अधिकारों का आधार स्तंभ बताते हुए कहा कि यदि ऐसा हुआ तो आने वाले दिनों में विभिन्न मानव अधिकारों की रक्षा हो पाएगी। स्कूली शिक्षा की चुनौतियों की चर्चा करते हुए श्रीमती सिंह ने पाठ्यक्रम में मानव अधिकारों को शामिल करने की प्रविधि पर भी प्रकाश डाला।

'आधुनिक भारतीय शिक्षा में निहित मनुष्य की अवधारणा का आशय' विषय पर बोलते हुए श्री डी. के. शर्मा ने कहा कि शिक्षा का संबंध मनुष्य के सामाजिक आर्थिक ऐसा नहीं हो पा रहा। आधुनिक शिक्षा पद्धति अक्षरज्ञान देती है, लेकिन उसे मनुष्य बनाने में असफल रही है।

'शिक्षा का अधिकार : दशा और दिशा' पर बोलते हुए सुश्री स्वरूपमा चतुर्वेदी ने भर्तृहरि के श्लोक के जरिये विद्या को परिभाषित करते हुए इसे मनुष्य को संपूर्ण और गरिमायुक्त बनाने के लिए अनिवार्य बताया। उन्होंने शिक्षा के अधिकार को मानवाधिकार का अनिवार्य अंग बताते हुए कहा कि इसके बावजूद यह सबको सुलभ नहीं है हालांकि कानून इसे सबके लिये अनिवार्य बताता है। जहां शिक्षा सबका अधिकार है, वहीं प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों को स्कूल भेजे।

प्रो. बी.बी. पांडे ने विचारों को समेटते हुए पूछा कि शिक्षा के संदर्भ में किसकी उपेक्षा हो रही है? उनकी, जिन्हें हम कर्तव्यों को याद दिलाते रहते हैं। शिक्षा क्यों आवश्यक है? क्योंकि अभी भी अंधकार और अज्ञान है। फिर, मानव अधिकार शिक्षा की आवश्यकता क्यों है और कौन इसके पात्र हैं ? यह शिक्षा सरकारी अधिकारियों, पुलिसकर्मियों, मीडियाकर्मियों को देने की जरूरत है जो व्यवस्था की नींव हैं और देश का कार्यक्रम निर्धारित करते हैं। उन्होंने इन सवालों पर भी विचार किया कि मानव अधिकार शिक्षा अंतर्वस्तु क्या हो ? क्या केवल नॉर्म्स की शिक्षा दी जाए या मानव अधिकार संबंधी जो यथार्थ है, उसकी शिक्षा दी जाए ? उन्होंने अपने अनुभव पर आधारित उदाहरण से पीडा या वस्तुस्थिति को आंखों से देखकर उसका निदान ढूंढने

पर बल दिया। उन्होंने मानव अधिकार शिक्षा का उद्देश्य केवल भारतीय संस्कृति की ओर जाना नहीं, वरन् ऐसी नवीन संस्कृति गढ़ना बताया जिसमें भारतीय संस्कृति के साथ–साथ, पश्चिम से हासिल ज्ञान भी हो और अनुभव से अर्जित ज्ञान भी।

इस सत्र में श्रीमती अंशु गुप्ता ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

'मानव अधिकार और भारतीय समाज का यथार्थ, विषय पर केंद्रित चौथे अकादमिक सत्र की अध्यक्षता श्री चंद्रधर त्रिपाठी ने की।विकास से है। शिक्षा प्रणाली तब तक सार्थक नहीं होगी जब तक वह मनुष्य की उन्नति का माध्यम न बने। उन्नति का मतलब यहां केवल भौतिक उन्नति नहीं, वरन समग्र उन्नति है। विचारणीय है कि शिक्षा का विषय रहा आम आदमी हमेशा उपेक्षित ही रहा। शिक्षा का मकसद नैतिक उन्नति और अमन का प्रसार होना चाहिए, लेकिन सत्र के पहले वक्ता डॉ. ज्ञानीश शुक्ल ने भारतीय शास्त्र और लोक में मानव अधिकार की अवधारणा विषय पर बोलते हुए पश्चिम में धर्म का लोक से संबंध और भारतीय धर्म और लोक में अंतर रेखांकित किया। उन्होंने कहा कि प्राकृतिक न्याय के संदर्भ में शास्त्र और लोक अपनी मर्यादा बनाते रहते हैं। उन्होंने कहा कि अधिकार हमारे यहां निर्णय लेने की आचार संहिता के रूप में परिभाषित हैं। अपनी संस्कृति के साथ जीने का अधिकार संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्वीकृत अधिकारों में एक है। इस दिशा में भारत अकेला देश है जहां यह अधिकार हमेशा बना रहा है।

डॉ. नरेन्द्र व्यास ने 'कौटिलीय अर्थशास्त्र और मानव अधिकार की संकल्पना का निर्वचन' विषय पर बोलते हुए पुनः रेखांकित किया भारतीय दृष्टिकोण में अधिकार एकांतिक नहीं हैं। कौटिल्यकृत 'अर्थशास्त्र' 'economics' के अर्थ में नहीं है, यह राजनीति, न्यायनीति और धर्मनीति विषयक विशद ग्रंथ है। उन्होंने अर्थशास्त्र का संक्षिप्त परिचय देते हुए कहा कि इन में वर्णित प्रावधानों को यदि समकालीन व्यवस्था में विवेकसम्मत रूप से क्रियान्वित किया जाए तो साक्ष्य आधारित न्यायतंत्र का पंगुपन दूर किया जा सकता है।

डॉ. अनिलदत्त मिश्र ने 'लिंग न्याय और मानव अधिकार' विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा कि महिलाओं के परिप्रेक्ष्य में संरचनात्मक हिंसा सर्वाधिक है जिसकी वजह से मानवाधिकारों का हनन हो रहा है क्योंकि संरचनात्मक हिंसा को कानून से दूर नहीं किया जा सकता। उन्होंने कहा कि हमें नीतिमूलक होना होगा। महिलाओं को सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता चाहिए तभी समानता पर आधारित समाज बनेगा ?

भारत सरकार के पूर्व सचिव श्री चंद्रधर त्रिपाठी ने अध्यक्षीय व्याख्यान देते हुए कहा कि भारतीय संस्कृति में मानव अधिकार की चर्चा बार–बार की जाती है, लेकिन आज का यथार्थ क्या है, सच्चाई क्या है ? चाहे हिंदू धर्म हो या मुस्लिम, आज की

सच्चाई गौर करने लायक है। अपराध से पीड़ित व्यक्ति के क्या अधिकार हैं ? कानून में इस दृष्टि से संशोधन अपेक्षित है।

संगोष्ठी का समापन सत्र आयोग द्वारा मानव अधिकार पर हिन्दी में सृजनात्मक लेखन पुरस्कार योजना के अन्तर्गत पुरस्कृत लेखकों पर केन्द्रित था। इस अवसर पर अपने उद्बोधन में मुख्य अतिथि डॉ. महेन्द्र पाल सिंह, पूर्व अध्यक्ष, विधि विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, ने अपने शिक्षण संबंधी लंबे अनुभवों की एक विचार–सरणि को प्रस्तुत किया। अपने उद्बोधन में आयोग की सराहना करते हुए कहा कि आयोग अपनी स्थापना के अल्पकाल में ही हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं के बीच मानव अधिकारों के प्रति जागरूकता लाने में एक अहम भूमिका निभा रहा है। इस अभियान से भारतीय जनमानस में मानव अधिकारों के प्रति विश्वास कायम करने में मदद तो मिलेगी ही साथ ही उनमें ऐसी संस्थाओं के प्रति एक सामाजिक निष्ठा भी कायम हो सकेगा।

समारोह के अन्त में आयोग के माननीय अध्यक्ष न्यायमूर्ति डॉ. ए. एस. आनन्द ने पुरस्कृत लेखकों को पुरस्कार राशि, शॉल, प्रमाण पत्र देकर सम्मानित किया।

इस सत्र में श्री नंदेश निगम ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

दो दिन चली संगोष्ठी के विभिन्न सत्रों का संचालन सुश्री रेणु वर्मा ने किया।

****